प्रकाशकीय

षट्खण्डागम धवल सिद्धान्तका प्रथम वार सम्पादक-प्रकाशन किस प्रकार प्रारम्भ हुआ इसकी पूरी जानकारी ग्रन्थराजके प्रथम सस्करणके प्रथम भागके प्राक् कथनसे प्राप्त हो जाती है और इसी हेतुसे उसे इस द्वितीय सस्करणमें भी अविकल रूपसे सम्मिलित किया जा रहा है। इस आगमका प्रथम भाग सन् १९३६ मे प्रकाशित हुआ और अन्तिम सोलहवां भाग १९५३ मे। तत्पश्चात् सेठ **सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक** फंडके ट्रस्ट बोर्डके सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अब आगे इस योजना की कैसी व्यवस्था की जाय। पूरे प्रकाशनके बीस वर्षमे सम्पादन-प्रकाशनके सूत्रधार एकमात्र **स्व. डॉ. हीरालालजी जैन** थे। अब उनके सम्मुख ये समस्याये थी कि एक तो ग्रथराजके सोलह भागोंमे से आदिके कुछ भाग अलभ्य हो गये थे, किन्तु उनकी मांग बराबर बनी हुई थी। दूसरे इसी बीच मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटोग्राफ परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटन, इस सस्थाद्वारा लिये जा चुके थे और वे फलटन (जिला, सोलापुर)के शास्त्र भण्डारमे विराजमान थे। तथा तीसरे डॉ. हीरालालजी चाहते थे कि इन आगम ग्रन्थोंको समुचित रूपसे नयी उपलब्धियोंके अनुसार संशोधित करते रहने और उन्हे जिज्ञासुओको सदैव उपलभ्य बनाये रखने का स्थायी उत्तरदायित्व की दृष्टिसे किसी एक व्यक्ति पर आधारित न रखकर किसी ऐसी संस्थाको सोपा जाय जो सुदृढ नीव पर निर्मित हो और अपने उद्देश्योमे व्यावसायिक नही किन्तु धार्मिक सेवा-भावसे प्रेरित और संचालित हो। अतः उन्होंने अपने चिर-सहयोगी डॉ. **आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये** के साथ इस समस्या पर सभी दृष्टियोंसे पूर्ण विचार कर यह निश्चय किया कि यह भार **ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्द दोशी** द्वारा स्थापित जैन संस्कृति संरक्षक सघ, सोलापुर को सोपा जाय। तदनुसार उन्होंने दोनों ट्रस्ट बोर्डोके अधिकारीयोको अवगत कराया और हर्षका विषय है कि दोनोंने ही उनके सत्परामर्शको स्वीकार कर लिया। तथा निम्नलिखित अनुबन्धोंके साथ सिद्धान्त ग्रन्थोंकी भावी व्यवस्था जै. स संरक्षक संघको सौप दी गयी–

१) सिद्धान्त ग्रन्थोंकी मुद्रित प्रतियोंका समस्त शेष स्टाक जै. सं. स. संघ सोलापुरको सौप दिया जाय।

२) श्रीमन्त लक्ष्मीचन्द्रजी द्वारा दान की गयी रकमके अतिरिक्त ग्रन्थमाला पर जो कर्ज हो गया है और जो दि. ४–७–६० के दिन रु १३९८० (तेरह हजार नौ सौ अस्सी) है वह जै. सं. सं. सघ सोलापुरसे प्राप्त कर चुका दिया जाय।

३) भविष्यमे प्रकाशित किये जानेवाले सिद्धान्त ग्रन्थोंमें 'श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक सिद्धान्त ग्रन्थमाला' और मुख्य सम्पादक डॉ. हीरालाल जैन एव सहसम्पादक डॉ आ. ने. उपाध्ये के नाम मुखपृष्ठ पर अकित रहेगे। तथा प्रकाशक जैन संस्कृति संरक्षक सघ, सोलापुर रहेगा।

४) भविष्यमें इन सिद्धान्त ग्रथोंके सम्पादन-प्रकाशन एवं विक्रयसे जो आय-व्यय होगा उसका उत्तरदायित्व जै. सं स. सघ, सोलापुर पर रहेगा।

५) इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके जो प्रकाशन भविष्यमें होगे उनकी दस-दस प्रतियां उक्त ट्रस्ट (श्री. राजेन्द्रकुमार जैन द्वारा– सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन, सा. उ. फंड, विदिशा म. प्र) को भेट स्वरूप भेजी जाय।

इन अनुबन्धोंको दोनो पक्षोके ट्रस्ट बोर्डोकी शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी और तदनुसार ग्रन्थों एवं धन-राशिका आदान-प्रदान भी हो गया।

तभीसे जैन संस्कृति संरक्षक सघ, सोलापुर, डॉ. हीरालाल जैन और डॉ आ. ने. उपाध्ये के निर्देशनानुसार सिद्धान्त ग्रन्थका फलटनमे विराजमान ताडपत्रीय प्रतियोके फोटोसे मिलान करा कर उनके प्रकाशनका प्रयत्न करता रहा है। किन्तु हमे खेद है कि इस कार्यके सम्पन्न करानेमे हमे बारह वर्ष लग गये तब कही यह तृतीय भाग तैयार होकर प्रकाशमे लाया जा रहा है। आशा है कार्यकी गुरुताको देखते हुये पाठक हमें क्षमा करेंगे।

हम स्व. डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. आ. ने. उपाध्ये के विशेष अनुगृहीत है कि उन्होंने न केवल सम्पूर्ण ग्रन्थराजके प्रथम संस्करणके संपादन का आदिसे अन्त तक निःस्वार्थ भावसे अपना सत्कर्तव्य निभाया, किन्तु वे उतनी ही तत्परता से इस द्वितीय सस्करणका भी उत्तरदायित्व झेलकर अपनी असाधारण दीर्घकालीन साहित्य-सेवाकी परम्पराको अक्षुण्ण बनाए हुए है।

निवेदक
श्री. बालचन्द देवचन्द शाह
मंत्री,
जैन सस्कृति सरक्षक सघ,
संतोष भुवन, फलटन गल्ली,
सोलापुर (महाराष्ट्र)

सन १९८०

सम्पादकीय

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलीकृत षट्खण्डागम सूत्र और उनकी आचार्य वीरसेनकृत धवला टीकाका स्थान जैन साहित्यमें अद्वितीय है। इनकी ताड़पत्रीय प्रतियां एकमात्र स्थान मूडविद्रीके जैन भण्डारमे सुरक्षित थी और शतियोसे अध्ययन नही, किन्तु दर्शन–पूजनकी वस्तु वन गयी थी। इस परमागम मानी जानेवाली महाकृतीकी प्रतिलिपियाँ किस प्रकार उक्त भण्डारसे वाहर निकली इसका भी एक रोमांचक इतिहास है जिसका परिचय इसके प्रथम संस्करणके प्रथम भागकी भूमिकामे दिया जा चुका है और वह प्रस्तुत संशोधित संस्करणमे भी अविकल रूपसे सम्मिलित है।

जव हमने सन् १९३८ ई. में भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्रजीके दानके निमित्तसे इस परमागमके अध्ययन व सशोधन कार्यमे हाथ लगाया, तब समाजमे इसकी भिन्न भिन्न प्रतिक्रियाये उत्पन्न हुई। नयी पीढीके समझदार विद्वानोने इसका हार्दिक स्वागत किया और कुछ पुराने पण्डितों और शास्त्रियों, जैसे स्व. पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री, प. हीरालालजी शास्त्री, पं. फुलचन्दजी शास्त्री और पं. वालचन्दजी शास्त्रीका हमें क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। किन्तु विद्वानोके एक वर्गने इसका कड़ा विरोध किया। कुछका अभिमत था कि षट्खण्डागम जैसे परमागमका मुद्रण कराना श्रुतकी अविनय है। यह भी मत व्यक्त किया गया कि ऐसे सिद्धान्त ग्रन्थोंको पढ़नेका भी अधिकार गृहस्थोंको नही है। वह केवल त्यागी मुनियोके ही अधिकारकी वात है। कुछ विद्वानोंको यह भी सन्देह था कि क्या हमारे जैसे अंग्रेजी पढे-लिखे वावुओं द्वारा ऐसी गहन सिद्धान्त रचनाका समझदारीसे संशोधन किया जा सकता है? इत्यादि। किन्तु जव इस विरोधके होते हुए भी हम और हमारे सहयोगी ग्रन्थके संशोधनमे दृढतासे प्रवृत्त हो गये और एक वर्षके भीतर ही उसका प्रथम भाग सत्प्ररूपणा प्रकाशित हो गया तव सभीको कुछ आश्चर्य सा हुआ। स्व. सिं. पन्नालालजीके नेतृत्वमें अमरावतीकी जैन समाजने वडे समारोह पूर्वक उस प्रथम भागका उद्घाटन कराया। फिर तो इस ओर विद्वानोंकी ऐसी रुचि उत्पन्न हुई कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोके प्रकाशनकी होड़ सी मच गयी। शोलापुर निवासी स्व. पं. वन्शीधर शास्त्रीने भी अपने निजी मुद्रणालयसे इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। किन्तु वे दो–तीन भागोके प्रकाशनसे आगे न वढ़ सके। कुछ काल पश्चात् जैन शास्त्रार्थ सघ मथुराकी ओरसे कषाय–प्राभृत (जय धवल सिद्धान्त) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तथा भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे महावंध (महाधवल सिद्धान्त) का प्रकाशन होने लगा। पीछे विदुषी सुमतीवाई शाहने सूत्रमात्र और उनके हिन्दी अनुवादका संस्करण प्रकाशित

कराया, तथा पं. हीरालालजी शास्त्रीने कषाय-प्राभृत के चूर्णि सूत्रोंको सानुवाद प्रकाशित कराया। इस प्रकार जो धवल, जयधवल और महाधवल नामसे प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ शतियोंसे पूजाकी वस्तु बने हुए थे वे समस्त जिज्ञासुओंके स्वाध्याय हेतु सुलभ हो गये। इसे जैन साहित्यके इतिहासमें एक विशेष उत्क्रान्तीकी संज्ञा दी जा सकती है।

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी द्वारा संस्थापित जैन साहित्योद्धारक फंडसे समस्त षट्खण्डागम और उसकी टीकाका अनुवादादि सहित संशोधन-प्रकाशन १६ भागोंमें १९३६ ई. से १९५६ ई तक २० वर्षोंमें पूर्ण हो गया। इसके अन्तिम भाग छपनेसे पूर्व ही आदिके कुछ भागोंकी प्रतियां समाप्त हो गयी थी और पाठकोंसे उन्हे पुन: प्रकाशन की मांग आने लगी थी। किन्तु सम्पादक मण्डलका यह निश्चय था कि जब तक एक बार पूरा ग्रन्थ प्रकाशित न हो जाये तब तक किसी भागके दुबारा प्रकाशनमें अपना समय व शक्ति न लगाये जाये। यह भी विचार था कि जब द्वितीय संस्करणमें हाथ लगाया जाये तब पाठका प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियोंसे मिलान अवश्य करनेका प्रयत्न किया जाय। हमने प्रथम संस्करणमें जो पाठ प्रस्तुत किया वह गुप्त रूपसे ताड़पत्रीय प्रतिकी कन्नड लिपीमें की गयी प्रतिलिपीकी नागरी प्रतिलिपीकी गुप्त रूपसे बाहर आयी प्रतिलिपियोंके आधारसे किया था। आदिसे ही हमारा ध्यान इस त्रुटिकी ओर था और हमने मूडबिद्रीके भट्टारक महाराजसे बार बार शुद्ध प्रकाशनमें सहायक होनेकी प्रार्थना भी की। किन्तु उनका रुख निषेधात्मक ही रहा। तथापी तृतीय भागके प्रकाशित होनेपर उनके भावोंमें एक विलक्षण परिवर्तन हुआ और उन्होंने हमें सूचित किया कि यदि हम चाहे तो वे ताड़पत्रीय प्रतियोसे पाठ मिलानकी सुविधा प्रदान कर सकते हैं। इसे हमने एक महान् पुण्योपलब्धि और वरदान ही समझा। ताडपत्रीय प्रतियोंकी लिपि हळेकन्नड (पुरानी कर्नाटककी लिपि) है, जिसके पढ़नेकी क्षमता इने-गिने विद्वानोंको थी। सौभाग्यसे हमें इस कार्य हेतु स्व. पं. लोकनाथ शास्त्रीका सहयोग प्राप्त हो गया और उनके द्वारा हमें वे पाठान्तर प्राप्त हुये जिनका समावेश तृतीय भागके एक परिशिष्टमें किया गया है। आगेके भागोंमें उनके द्वारा भेजे गये पाठान्तरोंका उपयोग मूलमें ही कर लिया गया।

सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होनेसे पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भागके सूत्र ९३ मे जो पाठ हमे उपलब्ध था उसमे अर्थ-संगति की दृष्टिसे संजदासंजदके आगे सजदपद और जोड़नेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। किन्तु इससे फलित होनेवाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओंसे कुछ विद्वानोंके मन आलोडित हुए और वे संजद पदको वहा जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुये और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखोंकी श्रृखलायें भी चल पडी, जिनका सग्रह कुछ स्वतंत्र ग्रन्थोंमे प्रकाशित भी हुआ है। इसके मौलिक समाधान हेतु जब हमने ताड़पत्रीय प्रतियोंके पाठकी सूक्ष्मतासे जांच कराई तब पता चला कि वहां कि दोनों भिन्न प्रतियोंमे हमारा सुझाया संजद पद विद्यमान है। इसके दो बातें स्पष्ट हुई- एक तो यह कि हमने जो पाठ-संशोधन किया है वह गंभीर चिंतन और समझदारी पर आधारित है और दूसरे यह कि मूल प्रतियोंसे पाठ-मिलानको आवश्यकता अब भी बनी

हुई है, क्योकि जो पाठान्तर मूडबिद्रीसे प्राप्त हुये थे और तृतीय भागके अन्तमे समाविष्ट किये गये थे, उनमे हमे यह सशोधन नही मिला।

इसी बीच बम्बईमे इस ग्रन्थको ताम्रपत्रों पर अकित करानेका भी आयोजन हुआ और वहां भी उक्त ९३ वे सूत्रमे संजद पद जोड़ने न जोड़नेके विषय पर विवाद उठ खड़ा हुआ, यद्यपि वहां भी ताड़पत्रीय प्रतियोंमे उसके होनेकी पुष्टि प्राप्त हो चुकी थी। अब यह प्रयास किया गया कि मूडबिद्री भण्डारमे उपलभ्य इन ग्रन्थोंकी सभी ताड़पत्रीय प्रतियोके फोटो-चित्र लिये जाये। यह कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो गया और वे सब फोटोग्राफ फलटनके शास्त्र भण्डारमे आ गये।

सन् १९५९ मे समस्त षट्खण्डागमका १६ भागोमे प्रकाशन पूरा हो जाने पर सम्पादकोंको यह चिंता हुई कि अब आदिके जो अनेक भाग अनुपलभ्य हो चुके है। उनका उक्त फोटो-चित्रोसे मिलान कर अन्तिम रूपसे संशोधित सस्करण तैयार करनेकी क्या व्यवस्था की जाय? बहुत सोच-विचारके पश्चात् यह निश्चय हुआ कि द्वितीय संस्करणका कार्यभार जैन संस्कृति सस्करण संघ, शोलापुरके आधीन किया जाय। हमने यह सुझाव श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी व उनकी प्रबन्ध समितीके समक्ष प्रस्तुत किया और उन्होंने हमारे सुझावको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके विषयमे भेलसा और शोलापुरकी संस्थाओंके बीच जो समझोता हुआ उसका विवरण प्रकाशकीय वक्तव्यमे दिया गया है।

पंच णमोकार मंत्र

अभी अभी पण्णवणा-सुत्त का सुन्दर सम्पादन-प्रकाशन हुआ है (जैन आगम ग्रंथमाला- ६, भाग १-२, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई- २६, सन् १९६९ व १९७१)। यह ग्रन्थ अर्धमागधी उपांगोंकी एक महत्वपूर्ण रचना है जो विषय व शैली आदि दृष्टियोंसे षट्खण्डागम सूत्रसे बहुत कुछ समानता रखती है। इसके सम्पादक मुनि पुण्यविजयजी, प. दलसुख मालवणिया और प. अमृतलाल मोहनलाल भोजक द्वारा लिखित अग्रेजी और गुजराती की सुविस्तृत प्रस्तावना बहुत महत्वपूर्ण है। इसमे आये दो प्रकरण प्रकृतोपयोगी होनेसे यहा उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी प्रस्तावनासे पृष्ठ २३५ आदिमे प्रज्ञापनाके मंगलाचरण व पचनमस्कार मंत्रकी विवेचना की गई है जिसका सारांश यह है कि प्राचीनतम जैन रचनाओंमे इस पूरे मंत्रका उल्लेख नही पाया जाता। पीछेके साहित्यमे इसका व्यापक प्रयोग पाया जाता है। तथापि उसके कर्तृत्वके विषयमे कही कोई स्पष्ट सूचना नही पायी जाती। किन्तु षट्खण्डागम सूत्रका प्रारम्भ इसी पंचनमस्कार मत्रसे होता है और उसकी वीरसेनकृत धवला टीकासे यह सकेत मिलता है कि उसके आदि-कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही है। हम प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम सूत्रकी टीकाके आधारसे द्वितीय भागकी प्रस्तावनामे तथा अन्यत्र भी यह प्रतिपादन कर चुके है कि आचार्य वीरसेन स्वामीका निस्संदेह अभिप्राय यही है कि यह मंत्र षट्खण्डागम सूत्रका अभिन्न

अंग है और उसके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही है। टीकाकारने मगलके दो भेद किये है– निबद्ध और अनिबद्ध और दोनोके लक्षण इस प्रकार समझाये है कि जहाँ सूत्रकार अपने मंगलाचरणकी स्वयं रचना करता है वह निबद्ध मगल कहलाता है और जहाँ अन्य द्वारा विरचित मंगलपाठ जोड़ दिया जाता है वह अनिबद्ध मगल है। इसी भेदके कारण उन्होंने यहां प्रयुक्त पचनमस्कार मंत्रको निवद्ध मगल माना है, तथा चतुर्थखण्ड वेदनाके आदिमे जो 'णमो जिणाणं' आदि लम्वा मगलपाठ है उसे उन्होने अनिवद्ध मगल कहा है, क्योकि, वह स्वयं प्रस्तुत सूत्रकार द्वारा रचित न होकर गौतम गणधर द्वारा विरचित है और उसीकी वहां पुनरावृत्ति की गयी है। इस प्रकार धवलाकारके अभिमतमे किसी शक–सन्देह का अवकाश नही है।

इस प्रसंगमे एक बातका और स्पष्टीकरण उचित होगा। णमोकार मत्रमे जो प्रथम पद 'णमो अरिहंताणं' आया है उसके स्थान पर कही 'अरहताणं' पाठ भी पाया जाता है और प्राकृत भाषाकी प्रकृति को ध्यानमे रखते हुए इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। किन्तु षट्खण्डागमके समान प्रज्ञापना सूत्रके आदिमे भी यही पाठ 'अरिहंताण' पाया जाता है, तथा उसके टीकाकार हरिभद्र और मलयगिरीने वही ग्रहण किया है। धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा विशेषावश्यक भाष्यकारने यही पाठ लेकर उसकी निरुक्ति अनेक प्रकारसे समझायी है और उसीसे अन्तमे उन्होंने उसके संस्कृत रूपान्तर अर्हत्की भी व्याख्या की है। धवलाकारके मतसे 'अरि-हननाद् अरिहन्ता' रजोहननाद् वा अरिहन्ता, रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता, अतिशय-पूजार्हत्वाद् वा अर्हन्तः। इस प्रकार धवलाकारके सम्मुख तो विकल्पसे भी अरहंत पाठ नही है (षट्खंड भाग १ पृ. ४२ आदि)।

अतः दिगम्बर–श्वेताम्बर दीर्घकालीन सैद्धान्तिक परम्परा अरिहंताणं पाठके पक्षमे ही सिद्ध होती है। इसी मंगलके 'णमो आइरियाणं' मे भी 'र्य' के स्थान पर रिय आदेश हुआ है और उसी प्रकार 'आर्य' का 'आरिय' तथा 'वर्ष' का 'वरिस' रूपान्तर होता है।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना सूत्र

पण्णवणासुत्त की प्रस्तावना का दूसरा प्रसंगोपयोगी प्रकरण पृष्ठ २२३ आदि पर प्रज्ञापना और षट्खण्डागम के तुलनात्मक विवेचन विषयक है। इसके अनुसार इन दोनों रचनाओमे बहुतसी महत्वपूर्ण समानताये है। १) दोनोंका विषय जीव और कर्मकी सैद्धान्तिक व्याख्या है। २) उनका मूल स्तोत्र बारहवां श्रुतांग दृष्टिवाद है। ३) उनकी रचना सूत्ररूप है। ४) कही कही दोनोंमे ये सूत्र गाथात्मक भी है। ५) कुछ गाथाये दोनोंमे समान हैं जो निर्युक्तियो और विशेषावश्यक भाषादिमे भी पायी जाती है। ६) दोनों रचनाएँ संग्रहात्मक है जिनमे समान शब्दावलि और उक्तियोका भी समावेश हुआ है। ७) दोनोके अल्प-बहुत्व प्रायः समान है और उन्हें महादण्डक कहा गया है। ८) गत्यागति प्रकरणमे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव पदोंकी प्राप्तिका उल्लेख है। ९) प्रज्ञापनाके कर्म, कर्मबंधक, कर्म-वेदक,

वेद-बन्धक, वेद-वेदक और वेदना ये छह पद (२३–२७ और ३५) षट्खण्डागमके छह खण्डों जीव-स्थान, क्षुद्रक-बन्ध, बन्ध-स्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्धका स्मरण कराते हैं। दोनों रचनाओंकी ये समानतायें निर्विवाद है और वे उनकी अर्थ एवं अभिव्यक्तीकी दृष्टीसे समान परम्पराकी द्योतक हैं।

किन्तु इन समानताओंके होते हुए भी दोनों रचनाओंकी अपनी अपनी विशेषताये भी अनेक है। जैसे– १) प्रज्ञापनामे ३६ पदसंज्ञक परिच्छेद हैं और उनके अवान्तर प्रज्ञापना, प्ररूपणा आदि विषयानुसार उपभेद किये गये है। किन्तु षट्खण्डागमके खण्ड पूर्वोक्त छह ही हैं और उनके भीतर बहुतायतसे चौदह जीव-समासों (गुणस्थानों) और चौदह मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे विषय प्ररूपण किया गया है, जिनका प्रज्ञापना सूत्रमें सर्वथा अभाव है। २) प्रज्ञापनाकी रचना एक कर्ता की है, जबकी षट्खण्डागमकी रचनामें पुष्पदन्त और भूतबलीका कर्तृत्व तो स्वीकार ही किया गया है, तथा उसकी अनेक चुलिकायें पीछे जोडी गयी अनुमान की जा सकती है, जैसे दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थोंमें पाया जाता है। ३) षट्खण्डागममें प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन प्रज्ञापना सूत्रकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और गंभीर, सुव्यवस्थित व योजनाबद्ध है। ४) प्रज्ञापना सूत्रमें प्रश्नोत्तर शैलीका उपयोग षट्खण्डागमकी अपेक्षा अधिक है। ५) प्रज्ञापना सूत्रकी रचना शुद्ध सत्रात्मक है, जबकी षट्खण्डागममे बहुधा अनुयोगद्वारोके निर्देश सहित टीकात्मक शैली भी पायी जाती है। यहां निर्युक्तियोके समान नाम, स्थापना आदि निक्षेपोंके आश्रयसे तत्त्वार्थसूत्रके समान सत्, संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा प्ररूपणा, निर्देश, विभाषा आदि जैसी सज्ञाओंके प्रयोग सहित भाष्य शैली अपनायी गयी है, तथा गति-अनुवादेन, इन्द्रियानुवादेन आदि स्पष्ट निर्देशोंका भी प्रयोग हुआ है। ६) षट्खण्डागम (भाग ७ सूत्र ७९) मे महादण्डक नामसे अल्पबहुत्व अधिक व्यवस्थासे ७८ पदोंमे 'वत्तइस्सामो' 'कादव्वो' जैसे शब्दों सहित किया गया है, जब कि प्रज्ञापना सूत्रमे ऐसे शब्दोंके बिना वह ९८ पदोंमे अवान्तर भेदोपभेदो सहित शिथिलतासे हुआ है। ७) प्रज्ञापना सूत्रके स्थान-पद नामक द्वितीय पदमे जो जीवोके क्षेत्रोंका वर्णन है वह शिथिलताके कारण बहुत लम्बा है, जबकि वही षट्खण्डागम (भाग ७ पृष्ठ २९९ आदि) में मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे सुगठित शैलीमे अपेक्षाकृत थोडेमे आ गया है। ८) प्रज्ञापना सूत्रमे अल्प-बहुत्व २६ द्वारोसे प्ररूपित है, तथा उसमे जीव-अजीवका मिश्रण अव्यवस्थासे हुआ है। किन्तु षट्खण्डागममें वही १४ मार्गणाओंके द्वारा सुव्यवस्थित रूपसे आया है। प्रज्ञापना सूत्रके २६ द्वारोंमे गति इन्द्रिय आदि मार्गणाओके नाम भी यत्र-तत्र आ गये है, किन्तु उसमे सुनिश्चित १४ मार्गणाओका अभाव है। यही स्थिति स्पर्श, काल आदि प्ररूपणाओंकी है। ९) प्रज्ञापना सूत्रकी तीन गाथाएं (९९–१०१ पृ. २५) वे ही हैं जो षट्खण्डागम (भाग १४ के सूत्र १२२–१२४) में पायी जाती है। किन्तु भेद यह है कि षट्खण्डागममे वे 'लक्खणं भणिदं' के साथ प्रस्तुत की गयी है जिससे वे अन्यत्रसे उद्धृत सिद्ध होती ठ। इनके कुछ पाठ ऐसे भी हैं जो षट्खण्डागमपमे अशुद्ध और प्रज्ञापना सूत्रमे शुद्ध रूपमें हैं।

इन समानताओं और विशेषताओं पर विचार करते हुये प्रज्ञापना सूत्रकी प्रस्तावनाके लेखकोने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि एक ओर तो दोनों ग्रन्थोकी सैद्धान्तिक परम्परा विषय और कुछ अंशमे रचनाकी दृष्टिसे अभिन्न है, किन्तु दूसरी ओर विषयके वर्गीकरण प्रतिपादनकी शैली तथा व्यवस्था और विधान एव पारिभाषिक शब्दावलि आदिकी दृष्टिसे षट्खण्डागमकी अपेक्षा प्रज्ञापनाकी रचना अधिक प्राचीन और पूर्ववर्ती प्रतीत होती है। इसकी और भी परिपुष्टि हेतु उन्होंने दोनोंके रचनाकाल पर भी विचार किया है। षट्खण्डागमकी रचनाका तो उन्होंने वही काल स्वीकृत कर लिया है जो उसके प्रथम भागकी प्रस्तावनामे अर्थात् वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् व विक्रम सवत् की द्वितीय शतीके लगभग निश्चित किया गया था। किन्तु प्रज्ञापना सूत्रकी रचना हेतु उन्हे वैसे निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य व प्रमाण नही मिले। अतः उसके लिये उन्हे कुछ शंकास्पद संकेतोंका आश्रय लेना पडा है जो इस प्रकार हैं–

१) प्रज्ञापना सूत्रके मंगलाचरणके पश्चात् दो ऐसी प्रक्षिप्त गाथाए पायी जाती है जिनमे अज्ज-साम (आर्य श्याम) को नमन करते हुए कहा गया है कि वे वाचक सघके तेवीसमें पुरुष थे और उन्होंने श्रुतसागरसे निकालकर उत्तम श्रुत-रत्न प्रदान किया। इसपरसे अनुमान किया गया है कि आर्य श्याम ही प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता है।

२) पट्टावलियोंकी परम्परानुसार जो तीन कालकाचार्य हुए उनमे प्रथम कालक ही श्यामाचार्य थे।

३) धर्मसागरीय पट्टावलिमे प्रथम कालका मृत्यु तथा खरतर गच्छीय पट्टावलि में उनकी जन्मका समय वीर निर्वाण से ३७६ वर्ष पश्चात् माना गया है।

मुख्यतः इन तीन बातोंपरसे निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना श्यामाचार्य द्वारा वीर निर्वाणकी चतुर्थ शतीमे अर्थात् विक्रम संवत्से लगभग सौ वर्ष पूर्व और तदनुसार षट्खण्डागमसे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुई।

उक्त तर्कोंपर यहां विचार किया जाय। १) उन दोनों प्रक्षिप्त गाथाओंमे पण्णवणा सुत्तका नाम भी नही आया। जिस श्रुत-रत्नका दान श्यामाचार्यने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थ-रत्नका भी तो अभिप्राय हो सकता है। यदि हरिभद्राचार्यने भी इन गाथाओंको प्रक्षिप्त कहकर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनके समय अर्थात् आठवी शतीमें श्यामाचार्यकी ख्याती ही चुकी थी। किन्तु उससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथायें जोडी गयी उसके क्या प्रमाण है? उन गाथाओंमे श्यामाचार्यको वाचक वंशके तेइसवाँ पुरुष कहां है? यह वंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेइसवी पीढी कब पडी इसका लेखा-जोखा कहाँ है? उनसे पूर्व ग्रन्थकी अंगभूत गाथामे तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णवणाका उपदेश भगवान् जिनवरने भव्य जनोंकी निवृत्ति हेतु किया था, जबकि प्रक्षिप्त गाथाओंमें दुर्धर, धीर व समृद्धबुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिर्दिष्ट श्रुत-रत्नका दान अपने शिष्यगणको दिया गया।

क्या प्रस्तुत ग्रन्थके कर्तृत्वके विषयमे मूल और प्रक्षेपकी मान्यता एक ही कही जा सकती है? २) पट्टावलियोंकी परम्पराये बहुत प्राचीन नही है। उनके रचनाकाल व प्रामाणिकतामे संदेह है। वे परस्पर विरोधी भी पायी जाती है। तीन कालकार्योमे से श्यामाचार्यका किससे एकीकरण किया जाय इसकी भी उनमे स्पष्ट स्थापना नहीं पायी जाती। उन्हीके आधारसे तो डॉ यू पी. शाहने अपना यह अनिश्चियात्मक मत व्यक्त किया है (पृ. २३२) कि जिन श्यामाचार्यको पट्टावलिमे ग्यारहवे कहा है वे गर्दभिल्लके विनाशकर्ता कालकाचार्यसे अभिन्न हो जाते है और तब प्रथम और द्वितीय कालक भी एक हो जाते है, इत्यादि। इस प्रकार श्यामाचार्य का कालकसे एकीकरण करके उनका काल-निर्णय करना बहुत कुछ अटकलबाजी ही है।

३) धर्मसागरीय और खरतरगच्छ पट्टावलियां कब बनी? किस आधारसे और उनके परस्पर विरोधका क्या कारण है? इन बातोंका समुचित समाधान हुए विना उनमे निर्दिष्ट कालको कहां तक प्रामाणिक माना जाय और उनमे उल्लिखित कालकको श्यामाचार्यसे अभिन्न कैसे मान लिया जाय?

जहां तक आधार प्रस्तुत किये गये है, उनसे यह स्पष्ट नही होता कि कहा कालकाचार्यको प्रज्ञापना सूत्रका कर्ता कहा गया है। 'श्याम' और 'काल' यह दोनों शब्द एकार्थी है, इससे श्यामार्य–कालकाचार्य यह समीकरण तुरंत स्फुरित होता है। परंतु अभ्यासपद्धतिमें यह ठीक नही लगता। हमें ऐसे प्रमाणो की जरूरत है जहां स्वतत्र रूपसे श्यामाचार्य और कालकाचार्य दोनों प्रज्ञापनके कर्ता के रूपमे निर्दिष्ट हैं। तदनतर ही दोनोका समीकरण होगा। तत्पश्चात् ही काल-निर्णय किया जा सकेगा।

वस्तुतः जैन साहित्यिक इतिहासके लिये यह एक महान् उपलब्धि होगी यदि किसी जैन ग्रन्थकी रचना विक्रम पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दि की सिद्ध की जा सके। वर्तमान जैन प्राकृतसाहित्यमे ऐसी सिद्धीकी क्षमता तो किसी भी रचनामे दिखाई नही देती, क्योकि, उनकी भाषात्मक वृत्ति मध्य-भारतीय-भाषा (Middle Indo-Aryans) के प्रथम स्तर की नही पायी जाती, किन्तु द्वितीय स्तर की है जिसका प्रारम्भ विक्रम की द्वितीय शतीसे पूर्व हुआ ही नही था। उदाहरणार्थ– पण्णवणा सुत्तमे आये 'लोए' (लोके), 'भयवया' (भगवता), 'सुय' (श्रुत), 'दिट्ठिवाय' (दृष्टिवाद), 'ठिई' (स्थिति), 'वेयणा' (वेदना) आदि जैसे मध्यवर्ती व्यजनोका लोप और उनके स्थान पर य-श्रुतिके आदेश की प्रवृत्ति द्वितीय शतीसे पूर्वकी प्राकृत भाषाओमे नही मिलती। इन पूर्ववर्ती भाषाओका स्वरूप हमे पालि त्रिपिटक, अशोक, खारवेल तथा सुग और आध्रवंशीय शिलालेखों एव अश्वघोषके नाटकोमे मिलता है जहां मध्यवर्ती व्यजनोके लोपकी प्रवृत्तिका अभाव है। यह व्यजन-लोप-वृत्ति दुसरी शतीके पश्चात् प्रारम्भ हुई और महाराष्ट्री प्राकृतका विशेष लक्षण बन गयी। इसीके जैन प्राकृत साहित्यमें प्रचुरतासे प्रयोगके कारण पिशेल आदि विद्वानोंने जैन प्राकृत रचनाओंकी भाषाओंको जैन महाराष्ट्री व जैन शौरसेनीकी संज्ञा दी है। अतः इस भाषाविज्ञानके प्रकाशमें पण्णवणा सुत्तकी रचनाको द्वितीय शतीसे पूर्वकी कदापि स्वीकृत नही किया जा सकता।

जहां तक पण्णवणाके षट्खण्डागमसे पूर्ववर्ती होनेका प्रश्न है वह भी निस्सन्देहात्मक नही कहा जा सकता। दोनो रचनाओ मे जो समानताये है वे निर्विवाद रूपसे सिद्ध करती हैं कि दोनो की मौलिक परम्परा एक ही है। यह वात केवल इन्ही दो रचनाओंसे नही, किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायो की समस्त सैद्धान्तिक (और उपसैद्धान्तिक) रचनाओ से सिद्ध होती है। उनका प्राण एक है, किन्तु शरीर व अंग-रचना भिन्न है। इस सबन्धमें धवलाकार वीरसेनाचार्यका यह कथन ध्यान देने योग्य है कि (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ६०) कर्ता दो प्रकार का होता है, अर्थ-कर्ता और ग्रन्थ-कर्ता। प्रस्तुत षट्खण्डागम के अर्थ-कर्ता तो भगवान् महावीर ही है, किन्तु ग्रन्थ-कर्ता गौतमादि मुनियों के अनुक्रम से पुष्पदन्त और भूतवलि आचार्य है, भगवान् महावीरके जिस उपदेशके आधारसे षट्खण्डागमकी रचना हुई उसीसे प्रज्ञापना सूत्र की। किन्तु साम्प्रदायिक परम्पराओके अनुसार उनमे शैली व वर्गीकरणादिमें भेद होना स्वाभाविक था। अनुवद्ध परम्परामे तो शैलीके विकासानुसार ग्रन्थोके पूर्वापरत्व का कुछ अनुमान किया भी जा सकता है, किन्तु स्वतत्र परम्पराओमे यह अनुमान अनुपयुक्त पाया जाता है और इस वात पर प्रज्ञापना सूत्रके सम्पादकोने स्वय भी बहुत जोर दिया है। वे कहते है (प्रस्ता. पृ २३०)।

The style of treatment i e. its simplicity or otherwise, can not be a determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajnapana and Shatkhandagama if we were guided only by the fact that the treatment of the subject-matter in the Shatkhandagama is more detailed and subtle than that found in Prajnapana Sutra.

इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिपादन शैलियोकी सरलता और सूक्ष्मताके आधार मात्रसे किन्ही रचनाओके कालानुक्रमका निर्णय करना एक भारी भूल होगी, क्योकि ये बाते तो ग्रन्थकारोके अपने अपने लक्ष्य तथा प्रतिपाद्य विषयपर अवलवित होती है और यही बात प्रज्ञापना और षट्खण्डागमके विषयमे समझना चाहिये। यहां यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि जहा श्वेतांवर मुनि प्रधानतया अर्धमागधी आगमसे बधे रहकर उसीके उद्धार, सग्रह, विस्तार आदिमे लगे रहे, वहा दिगम्बर मुनियोने मूल आगमको विलुप्त हुआ स्वीकार कर बहुत कुछ स्वतंत्रासे नवीन शैलीके ग्रन्थोका निर्माण किया। इसीके, जिसमें विद्वान् आचार्योंने अपनी प्रतिमाका उन्मुक्त भावसे उपयोग किया। परिणामस्वरूप धरसेनाचार्यसे परम्परागत सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागमके कर्ताओंने अपने बुद्धि-वलसे खारवेल से शिलालेखमे निवद्ध 'नमो अरहंतान' 'नमो सव सिधान' रूप द्विपदी मगलको पचपदी बनाकर प्रकट किया, ऐतिहासिक दृष्टीसे देखा जाय तो, विभिन्न स्थानोंमे भिन्न भिन्न विद्वान् मुनियोके गणोंमे समय समयपर मंगलविस्तारके बारेमे ऐसे प्रयत्न अवश्य किये गये होंगे। जब हम चत्तारिदंडक का अवलोकन करते है तो वहां का मगल चतुस्पद है। जब संघ व्यवस्था अच्छी बन गयी, तब 'साहु' शब्दकी व्याप्तीमें आचार्य, उपाध्याय और

सर्वसाधु आ गये होंगे। 'जीवकचिंतामणि' नामक प्राचीन तमिल जैन काव्यमें साधारणतया अपेक्षित पचनमस्कारात्मक मंगलकी जगह ग्रंथके आरंभमे चत्तारि मंगलरूपी नमस्कार है। इसी प्रकार सभवतः उन्होंने ही प्रथम वार जीव-समास (गुणस्थान) मार्गणा-स्थान व विविध अनुयोगद्वारोंका आविष्कार कर उनके आधारसे विधिवत् सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। उनकी इन विधाओंका स्वभावतः आदिमे विरोध या उपेक्षा की गयी होगी किन्तु धीरे धीरे वेही विधायें, उनकी अधिक सुव्यवस्थाके कारण समस्त जैन सैद्धान्तिक जगत् पर छा गयी और सर्वत्र स्वीकृत हो गई है। षट्खण्डागमके कर्ताओंने परम्परागत सिद्धान्तकी कोई भी बात किसी भी साम्प्रदायिक भेदभाव या पक्षपातके कारण छोडी नही, तथा उन्होने परम्परागत उपयोगी गाथाओको भी अपनी रचनामे यथोचित स्थान दिया। 'भणितं' आदि शब्दोंके उपयोग द्वारा यदि उन्होंने यह इंगित किया कि वह गाथा उनकी स्वनिर्मित नही है, किन्तु परंपरागत है तो यह उनकी साहित्यिक सच्चाई व ईमानदारी की परिचायक है। किन्तु यदि कोई अन्य लेखक इस वास्तविकताके सूचक सकेतोंको न देकर उसे अपनी मौलिक रचनाका अगरूप मान लेता है, तो वह इस प्रमाणसे पूर्ववर्ती नही माना जा सकता।

आर्यश्यामका नाम निर्देश प्रक्षिप्त गाथाओमें उपलब्ध होता है। वे प्रज्ञापनाके कर्ता (शब्दके सही अर्थमे) नही है, किन्तु संग्रहकार है जिन्होने परपरागत विषयोका संग्रह किया है। जब दोनो ग्रथकार, षट्खण्डागमके और प्रज्ञापनाके परंपरागत विषयोंका ही सग्रह करके निबद्ध कर रहे है, तब 'भणिद' शब्दका कोई कालनिर्णायक मूल्य नही है।

प्रज्ञापनामे कई परंपरागत गाथाएँ हैं जो उत्तराध्ययन और निज्जुत्तियोंमे भी मिलते है। इनको संग्रहणी गाथा कहा गया है (देखिए– प. मालवेनिया-प्रज्ञापना और षट्खण्डागमा, जे ओ. आर. १९, पृ. २६ इ. बडोदा ११६९)। पारस्परिक कालनिर्णयमे इनका कोई प्रमाणरूपसे मूल्य नही है। यदि प्रज्ञापना उत्तराध्ययनसे उत्तरकालीन है, तो प्रज्ञापनाका समय अनिर्णीत रहता है। जिस रूपमे आज हमे उत्तराध्ययन मिलता है, उस ग्रन्थकी रचना संपूर्ण रूपसे ईसापूर्व तीसरी या चौथी शताब्दीमे हुई थी, यह हम नही कह सकते। जैनतत्त्वविषयक जो अध्याय हैं, जिनकी ग्रंथके अन्तमे एकत्रित किया गया है, विशेषतया २८ वाँ अध्याय, बहुत कुछ अर्वाचीन है और कई विद्वानोंके मतानुसार तत्त्वार्थसूत्रके समीपवर्ती कालके है।

(इस संदर्भमे यह भी ध्यानमे लेना चाहिये। आगमज्ञान परंपरा मुख्यतया मौखिकही था। यह परपरा हस्तलिखितों पर चलता था ऐसा मानकर अनुमान करना ठीक नही है।) यदि कोई गाथा एक ग्रंथमे दूसरेकी अपेक्षा अधिक शुद्ध प्रतीत होती है तो वह लिपिकारोकी सावधानी व असावधानीका परिणाम भी हो सकता है। उसे मूल ग्रन्थकार महाविद्वान् आचार्योंकी भूल मानना नितान्त अनुचित होगा। यदि प्रज्ञापनामे पाठविशेष शुद्ध है, किन्तु षट्खण्डागममे अशुद्ध है तो इससे अवश्य यह अनुमान होना चाहिए कि प्रज्ञापनासे यह पाठ षट्खण्डागममे नही किया गया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि हमे अब तक ऐसा कोई प्रमाण हाथ नही लगा जिसके आधारसे यह कहा जा सके कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना षट्खण्डागमसे पूर्वकालीन है। षट्खण्डागम वीर निर्वाणके ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् २०० के लगभगकी सिद्ध है और वह सर्वसामान्य हो चुकी है। गिरनार व जुनागढके समीप बाबा प्यारा नामक गुफाओंमे जो शिलालेखादि मिले उनसे भी यही सिद्ध हुआ है कि वह सामग्री पूर्वोक्त कालकी ही है और संभवतः वही वह चन्द्रगुफा है जहा धरसेनाचार्य निवास करते थे। तथा जिस मुनिके सल्लेखना पूर्वक मरणका गुफालेखमे सकेत है वे धरसेन ही थे।

इसके विपरीत प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता और कालके विषयमे अभी भी निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। षट्खण्डागमकी परम्पराके आचार्योको तो उसके नाम तककी कोई जानकारी नही प्रतीत होती; क्योकि, यदि होती तो धवलाकार वीरसेनने जहाँ द्वादश अंगों और चौदह अंग बाह्य ग्रन्थों, जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदिका उल्लेख किया है (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ९६) वैसे पण्णवणा सदृश महत्वपूर्ण रचना को वे कैसे भूल सकते थे? भाषाशास्त्रके अनुसार वह रचना विक्रमसे पूर्व द्वितीय–तृतीय शतीकी तो हो ही नही सकती, विक्रम संवत् की दूसरी–तीसरी शतीसे पूर्वकी भी नही मानी जा सकती। यह भी निर्देश किया जाय कि षट्खण्डागममे स्वरमध्य क, त का प्रायः ग, द होनेकी प्रवृत्ति है, न तो लोप होने की। भाषाशास्त्रज्ञोके मतमे यह लोप-प्रवृत्ती का पूर्वस्तर है। निश्चितरूपसे तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह उसके सर्व प्रथम टीकाकार हरिभद्र (विक्रम की नवी शती) से पूर्वकालीन है और यदि उसके नन्दिसूत्रमें उल्लेख होनेके कारण वलभी वाचनासे पूर्वत्व सिद्ध होता हो, तो वह वीरनिर्वाण संवत् ६६३ (वि सं. ९९३) से पूर्वकालीन मानी जा सकती है और एक प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक है। वह यह है कि प्रज्ञापना को, जो संपादकोंके अनुसार विषयकी दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है और कालकी दृष्टि से इतना प्राचीन है, उपांगोंके अन्तर्गत क्यों विभाजित किया गया है? उपांग विभाग अर्वाचीन है ओर अगोसे उसका संबंध कृत्रिम है। उपांग विभाजन सभवतः वलभी वाचनानंतर ही अस्तित्वमें आ गया है और जो विषय अंगमे ग्रथित नही हो सके, ऐसेही विषय उपांगोंमे विद्यमान है। आर्य श्यामने जो सग्रह किया गया है, वह सापेक्षतः अव्यवस्थित और कही कही अपूर्ण सा लगता है, इसका कारण बहुत हद तक यही है। मतलब यह है कि संग्रह करते समय सब विषयोंका चिंतन अपनी ही तरफसे उन्होंने नही किया है।

सक्षेपमे यह ही कहना पडता है कि प्रज्ञापनामे कुछ प्राचीन अश है, किन्तु वे व्यवस्थित रूपमे नहीं रहे है। उसका प्रस्तुत स्वरूप वलभी वाचना या सम्मेलनके पूर्वकालीन नही है। वलभी सम्मेलनमे उसे 'उपाग' के रूपमे रक्खा गया और प्रक्षिप्त गाथाओंमे उसके तथाकथित कर्ताका नाम आया है।

प्रस्तुत भाग के सशोधन का विवरण पं. फुलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने अपने 'आवश्यक निवेदन' मे प्रस्तुत किया है। पंडितजी ने इस कार्य मे जो परिश्रम किया है उसके

लिये हम बहुत कृतज्ञ है। उन्होंने पाठ-सशोधन की जो तालिका दी है उससे स्पष्ट है कि यह सशोधन पूर्ण सावधानीसे किया है जिससे हम कह सकते है कि अब उक्त ताडपत्रीय प्रतियोकी वह अनिवार्यता नही रही। विशेष सतोष की बात यह है कि जिस साधन-सामग्री परसे प्रथम सस्करण तैयार किया गया था, उसे देखते हुए जितनी जैसी अशुद्धियोंकी हमें आशका थी वैसी नही मिली। आश्चर्य यह नही है कि कुछ महत्वपूर्ण पाठान्तर मिले, किन्तु आश्चर्य यह है कि उनसे पूर्ण सस्करणमे बैठायी गयी अर्थ-संगति सुव्यवस्थित ही सिद्ध हुई है। हमें आशा है कि अब शीघ्र ही अन्य मार्गोके भी संशोधित सस्करण क्रमसे तैयार कर प्रकाशित किये जा सकेगे। इस आशाका बडा भारी आधार यह है कि सस्कृति संघके सचिव श्री. वालचन्द देवचन्दजी शाह तथा उनके सहयोगी सदस्य इस विषयमे खूब रुचि रखते हैं और सब प्रकारसे अपना अधिकतम सहयोग प्रदान कर रहे है।

दिवंगत श्री. एन्. चंद्रराजने ताडपत्र हस्तलिखित प्रतियोकी फोटोंके आधार पर पाठान्तरोंका सग्रह किया था। इस पठन कार्यमे उनको विशेष प्रशिक्षण दिया गया था। इस कार्यमे हस्त प्रतियोंमेसे एक के पाठान्तर लिख लेनेमे प बालचन्द्र शास्त्री व प्रा. जे. डी. भोमाज ने सहायता की है। श्री. चंद्रराजके मूल फोटो प्रतियोको पढते समय प्रा भोमाज पाठ लिख लेते थे। इस संपुटके मुद्रण तथा प्रूफ सशोधनके कार्य प्रा. भोमाज और श्री. नरेद्र भिसीकर का अमूल्य सहयोग उपलब्ध हुआ है। उन सब सज्जनोका हम बहुत आभार मानते है।

बालाघाट (म. प्र.)
ता. २४–११–१९७२

सम्पादक,
हीरालाल जैन
आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

पश्चलेख

डॉ. हीरालालजी का दु.खद वियोग सिद्धान्त ग्रन्थोके अध्ययन के प्रति महान् आघात है। षट्खण्डागमका, धवला टीकासहित, सोलह खण्डोमे प्रकाशन तो उनकी महान् साधना का एवं उनके पांडित्य, स्वार्थत्याग, सेवा मनोधर्म तथा अविरत श्रमका खास द्योतक है। पिछले कुछ महीनोसे षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड के पुनर्विमर्शित सस्करणके प्रस्तावनाके कुछ पहलुओंपर हम टिप्पणिओंका परस्पर विनिमय करते आ रहे थे। उन्होने २४–११–७२ को मेरे यहां अपने हिन्दी प्रारूप भेजा और प्रार्थना की कि आवश्यक सुधारके साथ उसका अंग्रेजीमें अनुवाद करा दे। जहां तहां अपनी ओरसे कुछ जोडकर मैने अंग्रेजी प्रारूप तैयार किया। दिनांक २२–२–७३ को मैने आवश्यक सुधार के साथ अनुमोदन करनेके लिये प्रारूपको उनकी सेवामे भेजा। जहाँ तहाँ पर की गयी सुधारोसे ऐसा लगता है कि उन्होंने उसके कुछ पृष्ठ अवश्य पढे होंगे। उनके पुत्र श्री. प्रि प्रफुल्लकुमार मोदीने मुझे यह लिखा (७–३–७३) कि डॉक्टरोंने कुछ सप्ताहतक पूरी तरह आराम करने के लिए उनको सूचना दी है। हालहीमें मोतिबिंदूके कारण उनकी दूसरी आँखकी शस्त्रचिकित्सा हुई थी। हृद्रोग से तो वे त्रस्त थे, और साथ साथ मधुमेह भी उनको सता रहा था। उनके प्रवृत्ति पर और उनके असाधारण मनोधैर्य पर मुझे पूरा विश्वास था कि वे बहुत जल्दी ठीक हो जायेगे और हमारी प्रस्तावना पूरी हो जाएगी। अपने बिघडे हुए स्वास्थ्यकी परवाह किये बिना, डॉक्टरोंकी सलाहोंके बावजूद, उन्होंने लगातार अपने जीभर काम किया है। किसी अच्छे उद्देश की पूर्तिमे जीवन व्यतीत करे तो वही सही जीवन है उनकी तो यही धारणा थी। ऐसे भार को बहुत समयतक उनका शरीर सह नही पाया। १३–३–७३ को ऐसे धैर्यशील या लढाऊ विद्वान् का अन्त चुपचाप आ टकरा। साहित्य विविध क्षेत्रोंमे गत चालीस वर्षोसे निरंतर चला आया हमारे सहयोगी परिश्रमका इस तरह अन्त हो गया। डॉ. हीरालालजी मेरे अत्यन्त सौजन्यशील सहयोगी और कल्याण-मित्र रहे, यही मेरा सौभाग्य है। मुझे ऐसा लगता है कि मै अपने एक बडे भाईको इस समय खो बैठा हूं। अप्रेलके दूसरे हप्तेमे इस प्रस्तावना का प्रारूप उनके पुत्र की ओरसे मुझे लौटाया गया। मुझे खेद है कि डॉ. हीरालालजी उसको पूरी तरहसे सुधार न कर पाये। प्रथम खण्डके प्रकाशनमे उनकी जो सूचनाएँ और मार्गदर्शन मुझे पूरी तरहसे मिले, वे सौलभ्य दुरदृष्टवशात् आनेवाले खण्डोंको नही मिल सकते। प्रलेखोंके आधार पर उन्होंने प्रकाशकीय का प्रारूप तैयार कर दिनांक ६–१०–७२ को शोलापूर कार्यालय भेजा था। प्रस्तावनाके अन्तमें हम दोनोके हस्ताक्षर है। इसीलिये कि परस्पर चर्चा के बाद २४–११–७२ को (बालाघाट, मध्यप्रदेश) डॉ. हीरालालजीने उसका अनुमोदन किया था। परतु मुझे बहुत खेद है कि इस पश्चलेख पर मुझे अकेले को ही हस्ताक्षर करना पड रहा है। बडी सद्भावनासे मै यह विश्वास रखता हूँ कि उनकी दिवंगत आत्माको चिरशांति और सुख मिले।

मानसगगोत्री
म्हैसूर ५७०००६
दिनाक २, माई, १९७३

आ. ने. उपाध्ये

आवश्यक निवेदन

यह द्रव्यप्रमाण-अनुगम षट्खंडागम ग्रंथका प्रथम खण्ड है। उसका द्वितीय अनुयोगद्वारा संख्या प्ररूपणा है। इस ग्रंथकी प्रथम आवृत्तिका प्रकाशन सन १९३९ मे अमरावती-कारंजा-आरा की हस्तलिखित प्रतियोके आधारसे हुआ था।

प्रसन्नता की बात है कि इस ग्रथके संशोधनके समय जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापूर के माननीय मंत्री श्रीमान् वालचंद देवचंद शाह मुबई इनके सत्प्रयत्नसे मूल ताडपत्री ग्रंथके फोटो प्रिंट उपलब्ध हुये। उनको एन्लार्ज भी करा लिया। साथ ही मेरे सहयोगी श्री. प. वालचंद शास्त्री और श्री. प्रो. जिनेन्द्रकुमार भोमाज इनको नियुक्त कर मुद्रित प्रतियोंको सामने रखकर उनके पाठभेद भी लिखवा लिये।

जब जीवराज जैन ग्रंथमालाने षट्खण्डागम धवला के अप्राप्य प्रथम छह भागोंका पुनः प्रकाशन का निर्णय कर उक्त पाठभेदोके आधारसे उनके संशोधन का कार्य मुझपर सोपा गया, तब सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का संशोधन करते समय मुझे यह अनुभव हुआ कि केवल इन पाठभेदोंके आधारसे इनका सशोधन करना पर्याप्त न होगा। क्योंकि मुद्रित प्रतीमे ऐसे प्रचुर स्थल संदेहास्पद रह जाते है, जिनके लिये फोटो प्रिंटसे मिलान करना आवश्यक होगा। जब मैंने यह दृष्टिकोण सस्थाके मत्री महोदय के सामने रखा; तब उन्होने डॉ. ए. एन्. उपाध्ये जीसे परामर्ष कर फोटो प्रिंटसे मिलानकी सब व्यवस्था करते हुये स्व. पं. चंद्रराज शास्त्रीको इस कार्यमे सहायता करनेके लिये नियुक्त किया।

षट्खण्डागम धवला और कषाय प्राभृत जयधवला-की ताडपत्रीय सब प्रतियां हळे कानडी लिपिमे लिपिबद्ध थी। स्व श्री पं. चद्रराज शास्त्रीको इस लिपीको पढनेका अच्छा अभ्यास था। वे बडी सुगमतासे इन्हे पढते थे। अतः उनकी सहायतासे शंकास्पद स्थलोंको ठीक करनेमे बडी सहायता मिली। अब स्व. प. चंद्रराजशास्त्री हमारे बीच नहीं है। असमयमें उनका वियोग एक अनहोनी घटना हुई। जबतक यह सशोधनका कार्य चलेगा तबतक उनकी याद बराबर आती रहेगी।

मूडबिद्रीमे षट्खंडागम धवलाकी ताडपत्रीय तीन प्रतियां है। उनमेसे एक प्रत अधूरी प्रतीत होती है। शेष दो प्रतियां पूर्ण है। बीचबीचमे उनके भी अनेक पत्र नष्ट हो गये है। कही कही एकादा वाक्य वा कुछ अक्षर त्रुटित हो गये है। फिर भी उक्त दोनों प्रतियोंके फोटो प्रिंटके आधारसे ग्रंथके संदर्भ मिलानेमे कठिनाई नहीं आई। ऐसे कुछ ही स्थल शेष रहते है भुटित रह जाते है। मैंने यह अपना अनुभव प्रथम और द्वितीय पुस्तकका संशोधन करते समय आये हुये अनुभव के आधारसे लिखा है। सभव है कि आगे ऐसे कुछ स्थल भी ; ो जो सब प्रतियोंमे न होनेसे उपलब्ध न किये जा सके।

इन तीन प्रतियोंमेंसे एकका सकेत अक्षर 'अ' है। सूचित होता है कि यह प्रत सबसे प्राचीन होगी। क्योकि अन्य दो प्रतियोमे उद्धृत रुपसे जो कतिपय अधिक गाथाएं पाई जाती है, वे इसमें नही है। शेष दो प्रतियां उसके बाद लिपिबद्ध की गई जान पडती है। उनमेंसे खंडित प्रतिका संकेत अक्षर 'क' है। और तीसरी पूर्ण प्रतिका संकेत अक्षर 'ब' है।

प्रथम संस्करणसे इस द्वितीय संस्करणमे पाठभेदोंकी दृष्टिसे पर्याप्त संशोधन हुआ है। यद्यपि इस सस्करणमें जहां जहा पाठोंका संशोधन किया गया उन संशोधित पाठोंका मूलमें स्वीकार कर प्रथम संस्करणसे पाठोंका (मुद्रित) 'मु' इस संकेत अक्षरके साथ पाद टिप्पणियोंमें दे दिया है।

तथापि संशोधन की विशेषता का ज्ञान करानेके अभिप्रायसे कुछ उपयोगी संशोधित पाठभेदकी मालिका परिशिष्टमे निर्दिष्ट की गई है।

जो कतिपय महत्त्वके पाठभेद है, उनका परिशिष्टमे निर्देश किया हैं। इनमेंसे कतिपय पाठभेदोंको ध्यानमे रखकर अर्थभी योग्य परिवर्तन किया गया है। इससे समग्र ग्रंथ लगभग संशोधित शुद्ध हो गया है।

पंचनमस्कार स्वरूप प्रथम मगलसूत्र प्रातःस्मरणीय भगवान् आचार्य पुष्पदंतकी अमर कृति हैं। वह सर्वार्थ साधक है।

इस संस्करणके प्रूफ सशोधनका पूरा भार श्री. प. नरेन्द्रकुमार भिसीकर (न्यायतीर्थ) सोलापूर इनके उपर है। वे सरल स्वभावी-व्युत्पन्न और तत्त्वनिष्ठ विद्वान है। उन्होने इस कार्यको अच्छी तरह सम्पन्न किया है। इसके लिये मै उनका विशेष आभारी हूं।

श्रीयुत पं. हिरालालजी सिद्धांत शास्त्री का षट्खंडागम धवलाके संपादनमे प्रारंभमें पूरा सहयोग रहा है। उन्होने कषाय प्राभृत चूर्णि, पचसंग्रह आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथोंका संपादन किया है। वे अनुभवी विद्वान है। उनके सहयोगके लिये मै उनका आभारी हूं।

श्रीमान् स्व. डॉ. हिरालालजी जैन तथा श्रीमान् स्व. डॉ. ए. एन्. उपाध्ये ये जीवराज जैन ग्रथमालाके प्रधान संपादक थे। उन दोनो विद्वानोकी स्वीकृति पूर्वक ही मुझे यह कार्य सोपा गया था। एतदर्थ मैं उक्त सब विद्वानोका आभारी हूं। तथा वर्तमानमें ग्रथमालाके संपादक श्रीमान् पं. कैलासचंद्रजी सिद्धांतशास्त्री इन्होने अपना सपादकीय वक्तव्य देकर इस ग्रंथकी महत्ता बढाई है। इसलिये उनका भी मै आभारी हूं।

इस कार्यके मूल प्रेरक श्रीमान् वालचंद देवचंद शाह तो जीवराज जैन ग्रंथमालाके प्राण ही है। अपनी वृद्धावस्थाकी चिंता न करते हुये वे निरलस भावसे जीवराज जैन ग्रंथमाला सहित अनेक साहित्यिक तथा शैक्षणिक सस्थाओंकी सम्हाल करते है। उनकी ये सेवाएं सुवर्णाक्षरोंमें अंकित करने लायक है। वे दीर्घजीवी होकर इसी प्रकार धर्म और समाजकी सेवा करते रहे यह भावना रखते हुये मै उनके यथासंभव पूरे सहयोगके लिये उनका भी आभारी हूं।

इस सस्करणके मुद्रणका कार्य सुचारुरूपसे मेसर्स सन्मति मुद्रणालय, सोलापूरके सचालक तथा कर्मचारी गण इन्होने अल्प अवधिमें सुदर छपाईके साथ संपन्न किया है। इसलिये मै उनका मी आभार मानता हूं।

इस संस्करणके सशोधनमे मैने अपनी पूरी प्रतिभाका उपयोग किया है। फिर भी प्रमादवश कही कोई त्रुटि रह गई हो तो विद्वान् पाठक उसे सुधारकर पढे, तथा हमे सूचित करे। यह नम्र निवेदन है।

निवेदक–
पं. फुलचंद सिद्धान्तशास्त्री

प्राक् कथन

हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि गत द्वितीय भागके प्राक् कथनमे हमने मूडबिद्री सिद्धान्तभवनके अधिकारियोंके सहयोगसम्बन्धी जो सूचना प्रकट की थी, वह क्रियात्मक रूपमें परिणत हुई। इसके प्रमाण पाठक इसी भागके साथ प्रकाशित साहित्यसामग्रीमें देखेंगे। हमने महाधवलके अन्तर्गत ग्रथ-रचनाके सम्बन्धमें एक स्वतंत्र लेखके[1] द्वारा जो चिन्ता और जिज्ञासा प्रकट की थी, उसने उक्त सिद्धान्त भवनकी क्रियात्मक शक्तिको जागृत कर दिया। शीघ्र ही हमे स्वयं **भट्टारक स्वामी चारुकीर्तिजी** द्वारा महाधवलके सम्बन्धमें अनेक सूचनाएं और उसका परिचय भी प्राप्त हुआ और उसी सिलसिलेमे सिद्धान्तग्रंथोके ताडपत्रों, मंदिरों व अधिकारियों व कार्यकर्ताओके चित्र भी उन्होने भिजवानेकी कृपा की व ताडपत्रीय प्रतियोसे पाठ-मिलानकी सुविधा भी करा दी। इस पुण्य कार्यमे हमारे सदा सहायक **पं. लोकनाथजी शास्त्री** ने उक्त महाधवल-परिचय और मूडबिद्रीका इतिहास भी लिख भेजनेकी कृपा की, तथा वे अपने दो सहयोगी **पं. नागराजजी शास्त्री** और **पं. देवकुमारजी शास्त्री** के साथ मिलान कार्यमें दत्तचित्त भी हो गये। इस समस्त सहयोगके फलस्वरूप इस भागके साथ हम मूडबिद्री, वहांकी सिद्धान्तप्रतियों, मन्दिरो और अधिकारियोके चित्र व परिचय और इतिहास पाठकोके सन्मुख प्रस्तुत कर रहे है। यही नही, अब तक प्रकाशित तीनो भागोके पाठका ताडपत्रीय प्रतियोसे मिलान व तत्सम्बन्धी निष्कर्ष अत्यन्त परिश्रमपूर्वक सुव्यवस्थित करके पाठकोंके विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे है। एक ध्यान देने योग्य हर्षकी बात यह है कि मूडबिद्रीमे धवलसिद्धान्तकी एक सम्पूर्ण ताडपत्रीय प्रतिके अतिरिक्त दो और ताडपत्रीय प्रतिया है। यद्यपि ये बहुत अधिक त्रुटित है– इनके बीचके सैकडो पत्र अप्राप्य हो गये है– तथापि जितने है उतने पाठसंशोधनकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है, क्योकि, इनमें परस्पर पाठभेद भी पाये जाते है जहांसे हमारे मिलानमे दिये हुए 'ब' खडके पाठभेदोकी उत्पत्ति सभव है। विशेषत: मिलानके 'ब' खंडमे दिये हुए भाग एकके पृष्ठ २२८ से अन्ततकके पाठभेद तो यही से उत्पन्न हुए विदित होते है। यथाशक्ति इन त्रुटित प्रतियोके मिलान लेनेका भी हमने प्रयत्न किया है, किन्तु वर्तमान परिस्थितिमे इनका उतना और उसप्रकार उपयोग नही हो पाया जितना सूक्ष्मताकी दृष्टिसे अभीष्ट है। यथावसर इन प्रतियोंका विशेष परिचय देने और उपयोग लेनेका भी प्रयत्न किया जायगा। इस महान् साहित्यिक निधिको सर्वोपादेय बनानेमे सहायताके लिये मूडबिद्रीके उक्त महानुभावोंका हम जितना उपकार माने, थोड़ा है।

प्रस्तुत भागके पाठ-संशोधन व अनुवादमे सम्पादकोंको विशेष कठिनाईका सामना करना पड़ा है। एक तो यहांका विषय ही बडा सूक्ष्म है और दूसरे उसपर धवलाकारने अपने समयके गणित शास्त्रकी गहरी पुट जमाई है। इसने हमे बढ़ा हैरान किया, तथापि किसी

---

१ यह लेख जैन गजट, जैन मित्र, जैन संदेश, जैन बोधक आदि पत्रोमें नवम्बर १९४० में प्रकट हुआ था। उसका पूर्णरूप अन्तिम सूचनाओ तकके समाचार लेकर दिसम्बर १९४० के जैन सिद्धान्त भास्करमे प्रकाशित हो चुका है।

अज्ञात शक्तिकी प्रेरणा, जनताकी सद्भावना और विद्वानोंके सहयोगसे वह कठिनाई भी अन्ततः हल हो ही गई और अब हम यह भाग भी पूर्व भागोंके समान कुछ आत्मविश्वासके साथ पाठकोंके हाथमे सौपते है। मूल भागमे सामान्य विषय-प्ररूपणके अतिरिक्त कोई २८० शंकाएं उठाकर उनका समाधान किया गया है। इसके गहन, अपरिचित और दुरूह भागको अनुवादमे बीजगणित और अंकगणितके कोई २८० उदाहरणों तथा ५० विशेषार्थो व ३३३ पादटिप्पणों द्वारा सुगम और सुबोध बनानेका प्रयत्न किया गया है। इसका गणित बैठानेमें हमें हमारे कालेजके सहयोगी, गणितके अध्यापक **प्रोफेसर काशीदत्तजी पांडे**, एम. ए. से विशेष सहायता मिली है। उन्होंने कई दिनोंतक लगातार घंटों हमारे साथ बैठ बैठकर करण-गाथाओंको समझने समझाने व अन्य गणित व्यवस्थित करनेमें बडी रुचि और लगनसे खूब परिश्रम किया है। गाथा नं. २८ (पृ. ४७) का गणित नागपुरके वयोवृद्ध गणिताचार्य, हिस्लाप कालेजके भूतपूर्व गणिताध्यापक **प्रोफेसर जी. के. गर्देने** बैठा देने की कृपा की है, तथा उसीका दूसरा प्रकार, एवं पृ. ५०–५१ पर दिये हुए पश्चिम-विकल्पका जो गणितसबंधी सामंजस्य प्रस्तावनाके पृ. ६६ पर 'अर्थसंबंधी विशेष सूचना' शीर्षकसे दिया गया है वह लखनऊ विश्वविद्यालयके गणिताचार्य व 'हिन्दू गणितशास्त्रका इतिहास' के लेखक **डाक्टर अवधेश नारायणसिंहजीने** लगाकर भेजनेकी कृपा की है। इस अत्यन्त परिश्रमपूर्वक दिये हुए सहयोगके लिये उपर्युक्त सभी सज्जनोंके हम बहुत ही कृतज्ञ है। इस भागमे यदि कुछ सुन्दर और महत्त्वपूर्ण सम्पादन कार्य हुआ है तो वह इसी सहयोगका परिणाम है। हां, जो कुछ त्रुटियां और स्खलन रहे हों उनका उत्तरदायित्व हमारे ही ऊपर है, क्योकि, अन्ततः समस्त सामग्रीको वर्तमान रूप देनेकी जिम्मेदारी हमारी ही रही है।

इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी ओर विद्वान् पाठक कितने आकर्षित हुए है, यह उन अभिप्रायोंसे स्पष्ट है जो या तो समालोचनादिके रूपमे विविध पत्रोंमे प्रकाशित हो चुके है, या जो विशेष पत्रों द्वारा हमे प्राप्त हुए हैं। उन सभी सदभिप्रायोंके लिये हम लेखकोके विशेष आभारी हैं। इन अभिप्रायोंमे ऐसी अनेक सैद्धान्तिक व अन्य शंकाएं भी उठाई गई है जो ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनसे पाठकोके हृदयमें उत्पन्न हुई। कितने ही अंशमें उन शंकाओंके उत्तर भी हम यथाशक्ति उन उन पाठकोंको व्यक्तिगत रूपसे भेजते गये हैं। अब हम उनमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण शंकाएं और उनके समाधान, इस भागकी भूमिकामें पृष्ठक्रमसे व्यवस्थित करके प्रकाशित कर रहे हैं, जिससे ग्रंथराजके सभी पाठकोंको लाभ हो और इस सिद्धान्तके समझने समझाने में सहायता पहुंचे। गहन सिद्धान्तोंके अर्थपर प्रकाश डालनेवाले अभिमतोंका हम सदैव आदर करेंगे।

सम्पादनसंबंधी हमारी शेष साधन-सामग्री और सहयोगप्रणाली पूर्ववत् ही इस भागके लिए भी उपलब्ध रही। हमे **अमरावती जैन मन्दिरकी** हस्तलिखित प्रतिके अतिरिक्त **आराके सिद्धान्तभवन और कारंजाके महावीर ब्रह्मचर्याश्रमकी** प्रतियोंका मिलानके लिये लाभ मिलता रहा, तथा सहारनपुरकी प्रतिके नोट किये हुए पाठभेद भी समुपलब्ध रहे। अतएव हम उनके अधिकारियोके बहुत आभारी हैं। मूडबिद्रीय प्रतियोंके मिलान प्राप्त हो जानेसे हमने इन प्रतियोंके परस्पर पाठभेद व छूटे हुए पाठ आदि देना आवश्यक नहीं समझा।

हमारे सम्पादनकार्यमें विशेषरूपसे सहायक **पं. देवकीनंदनजी सिद्धान्तशास्त्री** गत तीन चार मास बहुत ही व्याधिग्रसित रहे, जिसकी हमें अत्यन्त चिन्ता और आकुलता रही। यद्यपि अभी भी वे बहुतही दुर्बल है, तथापि व्याधि दूर हो गई है और वे उत्तरोत्तर स्वास्थ्य लाभ कर रहे है जिसका हमे परम हर्ष है। हमे आशा और विश्वास है कि वे शीघ्र ही पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करके अपनी विद्वत्ताका लाभ हमें देते रहनेमे समर्थ होगे।

हमारे सहयोगी **पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री**का नवजात पुत्र गत फरवरी मासमें अत्यन्त रुग्ण हो गया, जिससे फरवरीके अन्तमें पडितजीको अकस्मात् देश जाना पडा। यथाशक्ति खूब उपचार करनेपर भी दुर्दैवसे पंडितजीको पुत्र-वियोगका अपार दुःख सहन करना पडा, जिसका हमें भी अत्यन्त शोक है और शेष कुटुम्बकी सहानुभूतिसे हृदय द्रवित होता है। तबसे फिर पडितजी वापिस नही आ सके। चूकि इस समय पडित फूलचन्द्रजी हमारे सन्मुख नही है, इससे हमे यह नि.स्संकोच प्रकट करते हुए हर्ष होता है कि प्रस्तुत कठिन ग्रन्थको वर्तमान स्वरूप देनेमे पंडितजीका भारी प्रयास रहा है, जिसके लिये शेष सम्पादकवर्ग उनका बहुत आभारी है।

प्रथम भागके प्रकाशित होनेसे ठीक आठ माह पश्चात् ही दूसरा भाग जुलाई १९४० में प्रकाशित हुआ था। मार्च १९४१ में आठ माह के पश्चात् ही यह तीसरा भाग प्रकाशमें आ रहा है। जो कुछ सहयोग और सहानुभूति इस महत्त्वपूर्ण साहित्यके प्रकाशनमे मिला रही है उससे आशा और विश्वास होता है कि यह पुण्य कार्य सुचारु रूपसे प्रगतिशील होता जायगा।

किंग एडवर्ड कॉलेज,
अमरावती
१–४–४१

हीरालाल जैन

INTRODUCTION.

1. Co-operation of the Moodbidri Authorities and Collation of the Palmleaf Manuscripts.

I will be noticed with the greatest pleasure by every one interested in the publication of this series that the present Volume is appearing with the full co-operation of the authorities at the pontifical seat at Moodbidri where the old palmleaf Mss. of this unique work are deposited and worshipped. The Publication of the first two volumes and our ceaseless efforts, as well as of those who realised the value and importance of this venture, brought about this miraculous and most welcome change in the outlook of those who had so far stood apart and looked upon the undertaking with doubts and misgivings. The immediate occasion for the change was provided by the publication of my article in which anxiety was expressed concerning the real contents of the palmleaf Ms. which goes by the name of Mahadhavala. It aroused a sensation amongst those who had any idea of the possible contents of those Mss. and stirred the hearts of all concerned. An examination of the palmleaf Mss. was, therefore, immediately arranged and I was soon informed by telegrams and letters about the results of that examination. The contact thus established proved lasting and the collation of the Dhavala Mss. with the published part of the work was carried out. The collation of the rest of the work is also proceeding, thanks to the sympathetic attitude of the authorities and the co-operation of a band of learned people there.

As a result of the search, two more old but incomplete palmleaf Mss. of Dhavala have been discovered. These would prove of immense value in settling the text more accurately. At present, the collation of all these palmleaf Mss. in a thorough and accurate manner was not possible, but it might be hoped that this will also be accomplished in the near future. The result of the Moodbidri collations, so far, has been that of the 488 variants noticed in the text of the three volumes yet published, including the present volume, 149 contribute towards the improvement of the text in the matter of sense or expression, or both, 62 appear to be optionally acceptable, 157 are phonetic options of the Prakrit language, while 120 are unacceptable, being scribal or other errors. These have been properly classified by us in an appendix and the general results are embodied in the Hindi Introduction (page 49). It was necessary to amend the translation very slightly only at 78 places in all. Our principles of text constitution and translation, as laid down by us in the Introduction to Volume I, are thus mostly borne out by this collation. The position of the euphonic ya map have to be reconsidered, but we must wait for more material. Of the 19 expressions which were not found in the available Mss. but were thought to be necessary by us and were, therefore, added and placed within brackets the present Volume, 13 have been found almost verbatim in the palmleaf Mss We re-examined the remaining 6 additions and found that even if we omit them from their allotted positions we have to infer the sense from the context.

2. Contents of the Mahadhavala manuscript.

The examination of the Mahadhavala palmleaves corroborated our doubts as well as fulfilled our hopes. The Ms. has been found to contain, on the first twenty-seven leaves, a work which has been called **Sattakamma-Panchika.** A careful examination of the extracts received by us from that work reveals the fact that it is a gloss on the first four out of the eighteen Adhikaras or chapters contained in the supplementary part of Dhavala which is entirely the composition of Virasena without any strata of old Sutras. The author and the date of this gloss remain yet obscure.

The rest of the Mahadhavala Ms. contains the **Mahabandha,** presumably the composition Acharya Bhutabali himself. This is indicated by the nature of the contents examined in the light of what has been said about the Mahabandha of Bhutabali in the Dhavala and Jayadhavala.

3. Subject matter of this volume.

The subject matter of this volume is the enumeration of souls in each of the fourteen stages of spiritual advancement (Gunasthanas) and in the different varieties of life and existence called the soul-quests (Marganasthanas). These have been calculated in terms of infinite (Ananta), innumerable (Asamkhyata) and numerable (Samkhyata), and the standards have been first explained and defined. Living beings are infinite in number. Of these, the major bulk, which also is infinite in number, consists of beings that are on the lowest rung of the spiritual ladder, the first stage of mental evolution (Mithyatvins). Of the rest, again, the major part are the absolved beings (Mukta or Siddha) who are also infinite. The beings in the stages from the 2nd to the 5th are innumerable, while those in the last nine stages (6th to 14th) are in all just three less than nine crores. The author of Dhavala has illustrated these quantities arithmetically by taking the entire living creation to be 16, out of which 13 would fall under the first category, while the remaining 3 would include the Siddhas and all the souls of the other thirteen stages. We have tried to carry this illustration further by splitting up the 3 as well so as to allot 2 to the Siddhas and distribute the remaining 1 among the thirteen stages according to their quantitative order. (See Intro. Page 37).

The soul quantities, according to the subdivisions falling under the Marganasthanas, have been defined and illustrated in his own way by the author. But we have tried to work the same out in figures that are consistent with the Gunasthana distribution, keeping the entire Jivarashi as 16, the Mithyadrishtis as 13, the Siddhas 2 and the rest comprised within 1. The categories falling under the fourteen Marganasthanas are 63, of which 23 are infinite, 32 innumerable, and 8 numberable. It would be interesting to note that the entire human race is said to be innumerable, but those that are found in the stages from the 2nd to the 14th are just three less than eight hundred and seventy-eight crores. These are spread over all the two and half Dvipas or mainlands over which the human populaion is spread (Page 38-43).

4. Scientific Importance of the Work.

The distribution of souls in the various stages of spiritual advancement and the varieties of life and existence is based upon certain Jaina dogmas which are in their

nature inscrutable. An attempt has been made by the authors of the Sutras and the Commentary to put the distribution in a precise mathematical form. The authors have made full use of the mathematical knowledge of their times, which reveals a considerably high state of development during the earliest centuries of the Christian era when the Sutras were composed, as well as during the latter part of the 8th and the earlier part of the 9th century when the commentary was written. The author of the Sutras shows a clear conception of infinity and orders of infiinty within infinity in their application to matter, time and space. Within the sphere of finite numbers he mentions figures from one to hundred, thousand, tens and hundreds of thousands, and crores, also their multiples and square roots, as well as the fundamental operations of arithmetic, namely, addition, subtraction, multiplication and division. The commentator has amplified this knowledge considerably in the light of what was known at his time. Several practical methods of division have been explained. There is a free use of the place value notation. The use of fraction has been frequently made in order to arrive at quotients with particular divisors, or to determine divisors when a particular quotient is given. This indicates the knowledge of fractions at that stage. The processes of evolution and involution are identical with those current in modern mathematics. Thus, we notice the use of powers (Vargita-samvargita) and roots (Varga-mula). This indicates that the author of Dhavala had a clear knowledge of the law of indices and possibly of the theory of logarithms, as may be inferred from the relations shown between the Varga-shalakas and Ardhacchedas ‡ The rule of three was an operation well known to the author for the purposes of showing variations. We also find the use of the summation of an arithmatic series. The author is also found to have employed the mensuration formula for a circle. The ratio of the circumference to the diameter is taken as a little less than $\sqrt{10}$, and it is just possible that approximations to this value in a fractional form to a fair degree of accuracy were known to the author.

It may be hoped that the work will considerably widen our knowledge about the state of mathematics and its application to the problems of life in ancient India As I have already acknowledged in my foreword, my colleague Professor K. D. Panday M. A. has interpreted for me many of the author's formulas and has also assisted in framing the illustrations, while Dr. Avadhesh Narain Singh, D. Sc, Professor of Mathematics in the Lucknow University and the author of the History of Hindu Mathematics has contributed the interpretations of formulas which are set forth by us on page 66 of the Hindi Introduction. Both these scholars are at present studying the work from the point of view of its mathematical importance, and some of my remarks above are based upon information already supplied by them. The amendation of the text of the verse 28 as well as its explanation and illustration as given in our translation are the contributions of Professor G. R. Garde, M. A., the wellknown Sanskritist and Mathematician of Nagpur.

5. Other Topics.

Other topics discussed in the Hindi Introduction are as follows–

1) An account of the palmleaf manuscripts as well as of the institutions and personalities of Moodbidri, together with a short history of the place, has been given

‡ The number of times that a particular figure is multiplied by itself is its Vargashalakas, while the number of times that a praticular figure is successively halved is its ardhacchedas.

with illustrations. It appears that the Jaina institutions of Moodbidri date from about the 11th century, with a background that may be about four centuries older. The foundation of the pontifical seat was laid during the 12th century and the zenith of prosperity was reached during the following two or three centuries (Page 1-6).

2) A little more light is shed on what have been called by the author of Dhavala the Northern and Southern Schools of thought (Uttara pratipatti and Dakshina pratipatti), to which we had drawn attention in the Introduction to Vol. I, page iii & 57, and which are cited more than once in the text now presented. (Page 92, 94, 98, of the text.) One mention of these Schools noticed by us in the Jayadhavala associates one school with Arya Mankhu and the other with Nagahasti. An attempt is being made by us to get more light on this important subject (Page 15).

3) Our conclusions about the authorship of Namokara Mantra expressed in the Introduction to Vol. II, created a considerable stir amongst people who have come to regard the sacred formula as eternal. A reconsideration of the pertinent text in the light of the readings obtained from the palmleaf Mss. of Moodbidri, corroborates our previous conclusions so far as the linguistic expression of the sacred formula in its present form is concerned. But there is no contradiction in regarding the sense of the formula as even older than Pushpadanta (Page 16)

4) After the publication of the first Vol., a great interest in the subject matter of the work was aroused and a number of questions were received by us from time to time for more light about the text and its interpretation. We tried to satisfy the curiousity of our inquirers then and there, and now we reproduce here in a properly arranged form a set of twenty-four questions with answers, because we considered them important from one point of view or another. It will be seen from these that our principles of text constitution and interpretation are fully justified (Page 18-31).

१ चित्र परिचय

१

ऊपरके नीचेकी ओर प्रथम सचित्र ताडपत्र श्रीधवल ग्रथका है। इसके मध्यमे एक तीर्थंकरका चित्र है, जिसके दोनों ओर अनुमानतः यक्ष-यक्षिणी खडे किये गये हैं। इसके दोनों ओर दो दो तीर्थंकरोके और चित्र है, तथा उनके एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षिणी चित्रित है। फिर दोनों छोरोपर प्रवचन करते हुए आचार्य व श्रोता श्रावकोंके चित्र है।

दूसरा सचित्र ताड़पत्र भी श्रीधवल ग्रथराजका है। बीचमे तीर्थंकर विराजमान है और आजूबाजू सात सात भक्त वन्दना करते हुए दिखाये गये है।

तीसरा ताड़पत्र श्रीधवलका कनाडी लिपिमे हस्तलिखित है।

चौथा ताडपत्र कनाडी लिपिमे हस्तलिखित श्रीमहाधवल ग्रंथका है।

पाचवां ताड़पत्र श्रीजयधवल ग्रथका है। बीचमे कनाडीका हस्तलेख तथा आजूबाजू चित्र है।

छठवां ताड़पत्र श्रीमहाधवलका २७ वां पत्र है, जहां 'सत्तकम्मपंचिका' पूरी हुई कही जाती है। इसके भी बीचमे हस्तलेख और आजूवाजू चक्राकार चित्र है।

सातवां ताडपत्र त्रिलोकसार ग्रथके भीतरका है।

२

नीचेसे ऊपरकी ओर प्रथम ग्रथ श्रीधवल सिद्धान्त (षट्खडागम) है। इसके ताडपत्रोंकी लम्बाई २ फूट, चौडाई २॥ इंच, तथा पत्र सख्या ५९२ है। प्रत्येक पृष्ठ पर प्रायः १४ पंक्तियां है और प्रत्येक पक्तिमे लगभग १३८ अक्षर है। इस प्रकार प्रत्येक ताड़पत्र पर श्लोक-संख्या लगभग १२०॥ आती है, जिससे कुल ग्रंथका प्रमाण ७१४८४ श्लोकोंके लगभग आता है।

अभीतक यही समझा जाता था कि धवलाकी प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति एकमात्र यही है। किन्तु अब खोजसे ज्ञात हुआ है कि वहां धवलाकी दो और भी ताड़पत्रीय प्राचीन प्रतियां है, जिनकी ताडपत्रोंकी संख्या क्रमशः ८०० और ६०५ है। इनमे पाठभेद भी कही कही बहुत कुछ पाया जाता है। किन्तु इन दोनो प्रतियोके बीचबीच के अनेक ताड़पत्र अप्राप्य है और इसप्रकार ये दोनो ही प्रतियां बहुत कुछ त्रुटित है। इनका प्रशस्तियों आदि सहित विशेष परिचय आगेके भागमे देनेका प्रयत्न किया जायगा।

दूसरा ग्रंथ श्रीमहाधवल कहलाता है। इसके ताड़पत्रोकी लम्बाई २ फूट ४ इंच, चौड़ाई २॥ इंच तथा पत्रसख्या २०० है। प्रत्येक पृष्ठपर प्रायः १३ पंक्तियां और प्रत्येक

पंक्तिमे लगभग १७० अक्षर हैं। इस प्रकार प्रत्येक ताड़पत्र पर श्लोक-संख्या १३८ आती है, जिससे कुलग्रंथका प्रमाण २७६०० श्लोकोंके लगभग आता है। किन्तु बडे पारिभाषिक शब्दोके सूक्ष्मरूप बनाकर लिखे गये है, इससे श्लोकप्रमाण अधिक भी हो सकता है।

तीसरा ग्रंथ **श्रीजयधवल** सिद्धान्त है। इसके ताडपत्रोकी लम्बाई २। फूट, चौड़ाई २।। इंच, तथा पत्रसंख्या ५१८ है। प्रत्येक पृष्ठपर प्राय. १३ पंक्तियां और प्रत्येक पंक्तिमे लगभग १३८ अक्षर है। इस प्रकार प्रत्येक ताड़पत्रपर श्लोक-सख्या लगभग १२० आती है, जिससे कुलग्रंथका प्रमाण ६११२४ श्लोकोके लगभग आता है।

३

यह मूडविद्रीका वही सुप्रसिद्ध मन्दिर है, जहा सिद्धान्त ग्रंथोकी ताड़पत्रीय प्रतियां, शताब्दियोंसे विराजमान है। इन्हीके कारण यह मन्दिर '**सिद्धान्त मन्दिर**' या '**सिद्धान्त बसदि**' कहलाता है। अनेक रत्नमयी प्रतिमाये भी यहा विराजमान है, जिनके दर्शनके लिये प्रतिवर्ष दूरदूरसे यात्री आते हैं। यहांके मूलनायक श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकर है। यही भट्टारक गद्दी है, जिससे इसे '**गुरु बसदि**' भी कहते है। इसका सब कार्यभार एक पंचायतके आधीन है, जिससे यह '**पंचायती मन्दिर**' भी कहलाता है।

४

यह मूडबिद्रीका '**बडा मन्दिर**' है। यहां के मूलनायक श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर हैं, जिनकी मूर्ति सुवर्ण आदि पंच धातुओंकी बनी मानी जाती है। इसकी इमारत तीन मंजिलकी है। दूसरे मंजिलपर '**सहस्रकूट चैत्यालय**' बहुत ही मनोज्ञ है। तीसरे मजिलमे छोटी-बडी ४० प्रतिमाएं विराजमान हैं, जो स्फटिकमयी है। इसीलिये इस मंजिलको '**सिद्धकूट**' भी कहते है। मन्दिरके सन्मुख एक '**मानस्तंभ**' और एक '**ध्वजस्तंभ**' खड़ा है। तीनों मजिलोंमे स्तंभोंकी संख्या कोई एक हजार है, जिससे इस मन्दिरका नाम '**सहस्रस्तंभ**' या हजार स्तंभवाला मन्दिर प्रसिद्ध हुआ है। अपनी अनुपम सुन्दरताके कारण यह मन्दिर '**त्रिभुवन-तिलक-चूडामणि**' भी कहलाता है।

५

ये मूडबिद्रीके स्वर्गीय भट्टारक **श्रीचारुकीर्ति स्वामी** है। आप संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे, तथा अन्य अनेक भाषाओके भी जानकार थे। आपके समयमें मूडबिद्री मे अच्छी धर्मप्रभावना हुई। आपने कई जगह कितने ही जैन मन्दिरोका जीर्णोद्धार कराया व पचकल्याणादि कराये। आपके ही सुसमय मे श्रीधवल और श्रीजयधवल, इन दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियां हुई थी और तीसरे सिद्धान्त ग्रंथ महाधवलकी प्रतिलिपिका कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। अजैन जनतामे भी आपका अच्छा गौरव और सन्मान रहा।

६

यह मूडबिद्रीके वर्तमान भट्टारक **श्रीचारुकीर्ति स्वामी** है, जो सिद्धान्त वसदिके मुख्य अधिकारी है। आप अपनी मातृभाषा कनाडी के अतिरिक्त सस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओके ज्ञाता है। उत्तर भारतमे भी आप दीर्घकाल तक रह चुके हैं। आपके ही समयमे श्रीमहाधवलकी प्रतिलिपि पूर्ण हुई। आपके ही सरल स्वभाव और उदार विचारोका यह सुफल है कि वहांकी पंचायतद्वारा श्रीमहाधवलकी प्रतिलिपि जिज्ञासु समाजको प्राप्य बनानेका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है। आप जीर्णोद्धारादि धार्मिक कार्योमे खूब दत्तचित्त रहते हैं। ग्रंथोंका जीर्णोद्धार कार्य भी आपकी दृष्टिके ओझल नही रह सका। हमारे सिद्धान्त-ग्रंथके सशोधन व प्रकाशन कार्यमे अब हमे आपकी पूर्ण सहानुभूति और सहायता मिल रही है, जिसके सुफल पाठक इस ग्रंथभागमे तथा आगे भी देखेंगे।

७

आप मूडबिद्रीके नगरसेठ **श्रीदेवराजजी सेठी** है। सिद्धान्तमन्दिरके आप पंच है और भट्टारकजीके सत्कार्योमें आपकी सम्मति और सहयोग रहता है। आप भी सिद्धान्तग्रथोंके सुप्रचार के पक्षपाती हैं।

८

आप मूडबिद्री सिद्धान्तमन्दिरके पंच **श्रीयुक्त धर्मपालजी** है। आप एक बडे उत्साही युवक है और सिद्धान्तग्रंथोंके सुप्रचार करानेमे आपकी विशेष रुचि है।

९

सरस्वती भूषण पं. लोकनाथजी शास्त्रीका पैतृक निवासस्थान मूडबिद्री ही है। आपका विद्याभ्यास स्वनामधन्य स्वर्गीय प. गोपालदासजी बरैयाकी अध्यक्षतामे मोरेना विद्यालयमे हुआ था। तत्पश्चात् आपने मूडबिद्रीकी जैन संस्कृत पाठशालामे बीस वर्ष तक अध्यापन कार्य किया और अनेक ऐसे योग्य विद्वान् उत्पन्न किये जो अब उस प्रान्तमे धर्म और समाजकी भारी सेवा कर रहे हैं। आपने अपने निरन्तर कठिन परिश्रमसे वीरवाणीविलास सिद्धान्तभवनकी स्थापना की है जिसमे मुद्रित व हस्तलिखित ताडपत्रादि चार हजार ग्रथोंसे ऊपरका सग्रह है। यहांसे आप एक वीरवाणी ग्रंथमालाका भी संपादन करते है, जिसमे सोलह ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। आप मूडबिद्रीके भंडारसे अलभ्य ग्रंथोंकी प्रतिलिपि कराकर मुबई, आरा, इंदौर, सहारनपुर, कलकत्ता आदि शास्त्रभंडारोंको भेज चुके है, जिसकी श्लोक सं. ८५००० से भी ऊपर हो गई है। आपका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्धान्तग्रंथोंकी प्रतिलिपियोंसे संबंध रखता है। जैसा हम प्रथम भागकी भूमिकामे कह आये हैं, महाधवलकी नागरी प्रतिलिपि पहले पहल आपकेद्वारा ही सन् १९१८ से १९२२ तक की गई थी। सन १९२४ मे आपने सहारनपुर पहुंचकर वहाकी धवला और जयधवलाकी कनाडी और नागरी प्रतियोंका मिलान

करवाया था। वर्तमानमे हमारी महाधवलाकी प्रतिसंबधी शंकाओंपर आपने ही अपने दो तीन सहयोगी विद्वानोसहित उक्त प्रतिकी जांच पडताल की और बहुमूल्य परिचय भेजनेकी कृपा की। हमारे प्रकाशित व प्रकाशनीय ग्रंथांशोंका ताड़पत्रीय प्रतियोंसे मिलान भी आपके ही द्वारा किया जा रहा है। आपकी आयु इस समय पचास वर्षकी है। लगभग दस वर्षसे श्वासकी व्याधिसे पीड़ित होते हुए भी आप साहित्यसेवाके कार्यसे विश्रान्ति नही लेते और प्रस्तुत सिद्धान्तप्रकाशन कार्यमे तो आप अत्यन्त तन्मयताके साथ जी तोड़कर सहयोग दे रहे है, जिसके सुफल पाठक इस भागमे तथा आगे प्रकाशनीय भागोमे देखेंगे।

२ मूडबिद्रीका इतिहास

दक्षिण भारतका कर्नाटक देश जैन धर्मके इतिहासमे अपना एक विशेष स्थान रखता है। दिगम्बर जैन सम्प्रदायके अधिकांश सुविख्यात और प्राचीनतम ज्ञात आचार्य और ग्रंथकार इसी प्रान्तमे हुए है। आचार्य पुष्पदन्त, समन्तभद्र, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, नेमिचन्द्र, चामुण्डराय आदि महान् ग्रंथकारोंने इसी भूभागको अलंकृत किया था।

इसी दक्षिण कर्नाटक प्रान्तमे ही मूडबिद्री नामका एक छोटासा नगर है जो शताब्दियोसे जैनियोका तीर्थक्षेत्र बना हुआ है। कहा जाता है कि यहां जैनधर्मका विशेष प्रभाव सन् ११०० ईस्वीके लगभग होय्सल-नरेश बल्लालदेव प्रथमके समयसे बढा। तेरहवी शताब्दिमे यहाकी पार्श्वनाथ बसदिको तुलुवके आलूप नरेशोंसे राज्यसन्मान मिला। पन्द्रहवी शताब्दिमें विजयनगरके हिन्दू नरेशोके समय इस स्थानकी कीर्ति विशेष बढी। शक १३५१ (सन् १५२९)के देवराय द्वितीयके एक शिलालेखमे उल्लेख है कि वेणुपुर (मूडबिद्री) उसके भव्यजनोके लिये सुप्रसिद्ध है। वे शुद्ध चारित्र पालते हैं, शुभ कार्य करते है और जैनधर्मकी कथाओंका श्रवण करते है। यहांके स्थानीय राजा भैररसने अपने गुरु वीरसेन मुनिकी प्रेरणासे यहांके चन्द्रनाथ मन्दिर को दान दिया था। सन् १४५१–५२ मे यहांकी होस बसदि (त्रिभुवनतिलक-चूडामणि व बडा मन्दिर)का 'भैरादेवी मण्डप' नामसे प्रसिद्ध मुखमण्डप विजयनगर नरेश मल्लिकार्जुन इम्मडिदेवरायके राज्यमे बनाया गया था। विरूपाक्ष नरेशके राज्यमे उनके सामन्त विठ्ठरस ओडेयरने सन् १४७२–७३ मे इसी बसदिको भूमि दान दिया था। यहां सब मिलाकर अठारह बसदि (जिनमन्दिर) हैं, जिनमे सबसे प्रसिद्ध 'गुरु बसदि' है जहां सिद्धान्त ग्रंथोकी प्रतिया सुरक्षित हैं और जिनके कारण वह 'सिद्धान्त बसदि' भी कहलाती है। यह नगर 'जैन काशी' नामसे भी प्रसिद्ध है। यहां अब जैनियोंकी जनसख्या बहुत कम रह गई है, किन्तु जैन संसारमें इसका पावित्र्य कम नही हुआ। यहाकी गुरुपरंपरा और सिद्धान्त-रक्षाके लिये यह स्थान जैन धार्मिक इतिहासमे सदैव अमर रहेगा[1]।

१ खोदे Salatore's Mediaeval Jainism, P. 351 ff and Ancient Karnataka P. 410-11.

मूडबिद्रीका पंडित लोकनाथजी शास्त्रीने मूडबिद्रीका निम्न इतिहास लिखकर भेजनेकी कृपा की है। कनाडी भाषामें बांसको 'बिदिर' कहते है। बांसोंके समूह को छेदकर यहांके सिद्धान्त मंदिरका पता लगाया गया था, जिससे इस ग्रामका 'बिदुरे' नाम प्रसिद्ध हुआ। कनाडीमे 'मूड' का अर्थ पूर्व दिशा होता है और पश्चिम दिशाका वाचक शब्द 'पडु' है। यहां मूल्की नामक प्राचीन ग्राम पडुबिदुरे कहलाता है और उससे पूर्वमें होनेके कारण यह ग्राम मूडबिदुरे या मूडबिदिरे कहलाया। वंश और वेणु शब्द बांस के पर्यायवाची होनेसे इसका वेणुपुर अथवा वंशपुर नामसे भी उल्लेख किया गया है। अनेक वती साधुओंका निवासस्थान होनेसे इसका नाम वतिपुर या वतपुर भी पया जाता है।

यहांकी गुरुबसदि अपरनाम सिद्धान्त बसदिके सम्बन्धमें यह दन्तकथा प्रचलित है कि लगभग एक हजार वर्ष पूर्व यहांपर बांसोंका सघन वन था। उस समय श्रवणबेलगुल (जैनबिद्री) से एक निर्ग्रंथ मुनि यहां आकर पडुबस्ती नामक मंदिरमे ठहरे। पडुबस्ती नामक प्राचीन जिनमंदिर अब भी वहां विद्यमान है और उस मंदिरसे सैंकडों प्राचीन ग्रंथ स्वर्गीय भट्टारकजीने मठमें विराजमान किये है। एक दिन उक्त निर्ग्रंथ मुनि जब बाहर शौचको गये थे तब उन्होंने एक स्थानपर एक गाय और व्याघ्रको परस्पर क्रीडा करते देखा, जिससे वे अत्यन्त विस्मित होकर उस स्थानकी विशेष जांच पड़ताल करने लगे। उसी खोजबीनके फलस्वरूप उन्हे एक बांसके भिरेमें छुपी हुई व पत्थरों आदिसे घिरी हुई पार्श्वनाथ स्वामीकी काले पाषाणकी नौ हाथ प्रमाण खड्गासन मूर्तिके दर्शन हुए। तत्पश्चात् जैनियोंकेद्वारा उसका जीर्णोद्धार कराया गया और उसी स्थानपर 'गुरुबसदि' का निर्माण हुआ। उक्त मूर्तिके पादपीठपर उसके शक ६३६ (सन् ७१४) में प्रतिष्ठित किये जानेका उल्लेख पाया जाता है। उसके आगेका गद्दीमंडप (लक्ष्मी मंडप) सन् १५३५ में चोलसेठीद्वारा निर्मापित किया गया था। इस बसदिके निर्माणका व्यय छह करोड रुपया कहा जाता है जिसमें संभवतः वहां की रत्नमयी प्रतिमाओंका मूल्य भी सम्मिलित होगा। इस मन्दिरके गुप्तगृहमें सुवर्णकलशोंमें 'सिद्ध रस' स्थापित है, ऐसा भी कहते हैं।

एक किंवदन्ती है कि होय्शल-नरेश विष्णुवर्धनने सन् १११७ में वैष्णव धर्म स्वीकार करके हलेबिड् अर्थात् दोरसमुद्रमे अनेक जिन मन्दिरोंका ध्वंस कर डाला और जैनधर्मपर अनेक अन्य अत्याचार किये। उसी समय एक भयंकर भूकंप हुआ और भूमि फटकर एक विशाल गर्त वहां उत्पन्न हो गया, जिसका संबन्ध नरेशके उक्त अत्याचारोंसे बतलाया जाता है। उनके उत्तराधिकारी नारसिंह और उनके पश्चात् वीर बल्लालदेवने जैनियोंके क्षोभको शान्त करनेके लिये नये मन्दिरोंका निर्माण, जीर्णोद्धार, भूमिदान आदि अनेक उपाय किये। वीर बल्लालदेवने तो अपने राज्यमे शान्तिस्थापनाके लिये श्रवणबेलगुलसे भट्टारक चारुकीर्तिजी पंडिताचार्यको आमंत्रित किया। वे दोरसमुद्र पहुंचे और उन्होंने अपनी विद्या व बुद्धिके प्रभावसे वहांका सब उपद्रव शान्त किया, जिससे जैनधर्मकी अच्छी प्रभावना हुई। इसका कुछ उल्लेख बिळगीके शासन लेखमें भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है–

कर्णाटक-सिद्धांसिंहासनाधीश्वर-बल्लालरायं प्रार्थिसे श्री चारुकीर्तिपंडिताचार्यर् इंतु कीर्तियं पडेदर्"

तिर्वे रायननेंदु ने-
लवारिंबडे तन्न मज्जपविधियिनदं ॥
कुंबलकायि सूळदु य-
शं बडेदेसकक्के पंडितार्यने नोतं ॥

दोरसमुद्रसे चारुकीर्तिजी महाराज अपने शिष्योंसहित मूडबिद्री आये और उन्होंने वहां गुरुपीठ (भट्टारक गद्दी) स्थापित की, यहां आते समय उन्होंने पासही नल्लूर ग्राममें भी भट्टारक गद्दी स्थापित की थी, किन्तु वर्तमानमे वहां कोई अलग भट्टारक नही है, वहांके मठका सब प्रबन्ध मूडबिद्री मठसे ही होता है। यह मूडबिद्रीमे भट्टारक गद्दी स्थापित होनेका इतिहास है, जिसका समय सन् ११७२ ईस्वी बतलाया जाता है। तबसे भट्टारकोका नाम चारुकीर्ति ही रखा जाता है, यद्यपि उसके साथ साथ कुछ स्वतंत्र नामों, जैसे वर्धमानसागर, अनन्तसागर, नेमिसागर आदिका भी उल्लेख पाया जाता है। धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोकी प्रतियां यहां धारवाड जिलेके बंकापुरसे लाई गई, ऐसी भी एक जनश्रुति है। इस मठसे दक्षिण कर्नाटकमे जैनधर्मका खूब प्रचार व उन्नति हुई। वर्तमानमे मठकी सपत्तिसे वार्षिक आय लगभग दस हजारकी है[1]।

३ महाबंधका खोज

१ खोजका इतिहास

षट्खंडागमका सामान्य परिचय उसके प्रथम दो भागोंमे प्रकाशित भूमिकाओंमे दिया जा चुका है[2]। वहां हम बतला आये है कि धरसेनाचार्यसे आगमका उपदेश पाकर पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंने उसकी छह खंडोंमे ग्रन्थरचना की जिनमेसे प्रथम पांच खंड उपलब्ध श्रीधवलकी प्रतियोके अन्तर्गत पाये जाते है और छठे खंड महाबन्धके सम्बन्धमे धवल तथा जयधवलमे यह सूचना पाई जाति है कि महाबन्ध स्वयं भूतबलि आचार्यका रचा हुआ ग्रन्थ है, उसमे बंधविधानके चार प्रकारो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का खूब विस्तारसे वर्णन किया गया है, तथा यह वर्णन इतना विशद और सर्वमान्य हुआ कि यतिवृषभ और वीरसेन जैसे आचार्योंने अपनी अपनी ग्रन्थरचनामे उसकी सूचनामात्र दे देना पर्याप्त समझा; उस विषयपर और कुछ विशेष कहनेकी उन्हे गुजायश नही दिखी।

इस महाबधकी अभीतक कोई प्रति प्रकाशमे नही आई। किन्तु हम सब यह आशा करते रहे है कि मूडबिद्रीके सिद्धान्त भवनमे जो महाधवल नामकी कनाडी प्रति ताडपत्रोंपर तृतीय सिद्धान्त ग्रन्थरूपसे सुरक्षित है, वही भूतबलिकृत महाबध ग्रन्थ है। इस आशाका आधार अभीतक केवल हमारा अनुमान ही था, क्योकि, न तो कोई परीक्षक विद्वान् उस प्रतिका अच्छीतरह अवलोकन कर पाया था और न किसीने उसके कोई विस्तृत अवतरण आदि देकर

---

१ देखो लोकनाथशास्त्रीकृत मूडबिद्रेय चरित (कनाडी)।

२ देखो प्रथम भाग, भूमिका पृ ६३ आदि व द्वि भाग भूमिका पृ. १५ आदि.

उसका सुपरिचय ही कराया था। उस प्रतिका जो कुछ थोड़ासा परिचय उपलब्ध हुआ था, वह मूडविद्रीके पं. लोकनाथजी शास्त्रीकी कृपासे उनके वीरवाणीविलास जैन सिद्धान्तभवनकी प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५)के भीतर पाया जाता था। उस परिचयमे दिये गये महाधवल प्रतिके प्रारंभिक भागके सूक्ष्म अवलोकनसे मुझे ज्ञात हुआ कि वह ग्रन्थरचना महाबंध खंडकी नही है, किन्तु संतकम्मके अन्तर्गत शेष अठारह अनुयोगद्वारोंकी एक 'पंचिका' है, जिसे उसके कर्ताने 'पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं' कहा है। उन अवतरणोंसे महाबंधका कही कोई पता नही चला। मैंने अपनी इस आशंकाको एक लेखके द्वारा प्रकट किया और इस बातकी प्रेरणा की कि महाधवलकी प्रतिका शीघ्रही पर्यालोचन किया जाना चाहिए और महाबंधका पता लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। इस लेखके फलस्वरूप मूडविद्री मठके भट्टारक स्वामी व पंचोंने उस प्रतिकी जांचकी व्यवस्था की और शीघ्र ही मुझे तारद्वारा सूचित किया कि महाधवल प्रतिके भीतर सत्कर्मपंचिका भी है और महाबंध भी है। तत्पश्चात् वहांसे प. लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा संग्रह किये हुए उक्त प्रतिमेंके अनेक अवतरण भी मुझे प्राप्त हुए जिनपरसे महाधवल प्रतिके अन्तर्गत ग्रन्थरचनाका यहां कुछ परिचय कराया जाता है।

२ सत्कर्मपंचिका परिचय

महाधवल प्रतिके अन्तर्गत ग्रन्थरचनाके आदिमे 'संतकम्मपंचिका' है, जिसकी उत्थानिका का अवतरण अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह अवतरण पूर्व प्रकाशित धवलाके दोनों भागोंकी भूमिकाओंमे यथास्थान उद्धृत किया जा चुका है, तथापि वह उक्त रिपोर्टपरसे लिया गया था और कुछ त्रुटित था। अब यह अवतरण हमें इस प्रकार प्राप्त हुआ है।

वोच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरण सुमहत्थ।

" महाकम्मयपडिपाहुडस्स कदिवेदणाओ (दि-) चउव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास-कम्म-पयडि-बंधण चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंध-णिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंधविधाणणामणियोगो महाबंधम्हि, पुणो बंधगाणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पपंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो।"

इस उत्थानिकासे सिद्धान्त ग्रन्थोंके सम्बन्धमें हमें निम्न लिखित अत्यन्त उपयोगी और महत्वपूर्ण सूचनाएं बहुत स्पष्टतासे मिल जाती हैं–

१ महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेसे प्रथम दो अर्थात् कृति और वेदना, वेदनाखंडके अन्तर्गत रचे गये हैं। फिर अगले स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधनके चार भेदोंमेंसे बंध और बंधनीय वर्गणाखंडके अन्तर्गत हैं। बंधविधान महाबंधका विषय है, तथा बंधक खुद्दाबंध खंडमें सन्निहित है। इस स्पष्ट उल्लेखसे हमारी पूर्व बतलाई हुई खंड-व्यवस्थाकी पूर्णतः पुष्टि हो जाती है और वेदनाखंडके भीतर चौबीसों अनुयोगद्वारोंको मानने तथा वर्गणाखंडको उपलब्ध धवलाकी प्रतियोंके भीतर नहीं माननेवाले मतका अच्छी तरह निरसन हो जाता है।

२ उक्त छह अनुयोगद्वारोंसे शेष अठारह अनुयोगद्वारोंकी ग्रन्थरचनाका नाम सत्तकम्म (सत्कर्म) है और इसी सत्कर्मके गभीर विषयको स्पष्ट करनेके लिये उसके थोडे थोडे अवतरण लेकर उनके विषमपदोंका अर्थ प्रस्तुत ग्रन्थमे पचिकारूपसे समझाया गया है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शेष अठारह अनुयोगद्वारोंसे वर्णन करनेवाला यह सत्कर्म ग्रन्थ कौनसा है? इसके लिये सत्कर्मपचिकाका आगेका अवतरण देखिए, जो इस प्रकार है–

तं जहा। तत्र ताव जीवदव्वस्स पोग्गलदव्वमवलंबिय पज्जायेसु परिणमणविहाणं उच्चदे-जीवदव्वं दुविहं, संसारिजीवो मुक्कजीवो चेदि। तत्थ मिच्छत्तासजमकसायजोगेहि परिणदसंसारिजीवो जीव-भव-खेत्त-पोग्गल-विवाइसरूवकम्मपोग्गले बधिऊण पच्छा तेहिंतो पुव्वुत्त–छव्विहफलसरूवपज्जायमणेयभेयभिण्णं संसरदो जीवो परिणमदि त्ति। एदेसिं पज्जायाणं परिणमणं पोग्गलणिबंधणं होदि। पुणो मुक्कजीवस्स एवं-विध-णिबंधणं णत्थि, किंतु सत्थाणेण पज्जायंतरं गच्छदि। पुणो–

जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो इदि।

एदस्सत्थो-एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदसणाणि। पुणो दुविहजीवाणं णाणसहावविवक्खिद-जीवेहिंतो वदिरित्त-जीवपोग्गलादि-सव्वदव्वाण परिच्छेदणसहावेण पज्जायंतरगमणणिबंधणं होदि। एवं दसणं पि वत्तव्वं।

यहां पंचिकाकार कहते हैं कि वहापर अर्थात् उनके आधारभूत ग्रन्थके अठारह अधिकारोंमेंसे प्रथमानुयोगद्वार निबंधनकी प्ररूपणा सुगम है। विशेष केवल इतना है कि उस निबंधनका निक्षेप छह प्रकारसे बतलाया गया है। उनमे तृतीय अर्थात् द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपकी प्ररूपणामे आचार्य इस प्रकार कहते हैं। जिसका खुलासा यह है कि यहां पर पुद्गल द्रव्यके अवलंबनसे जीवद्रव्यके पर्यायोंमे-परिणमन विधानका कथन किया जाता है। जीवद्रव्य दो प्रकारका है, ससारी व मुक्त। इनमे मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे परिणत जीव संसारी है। वह जीवविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और पुद्गलविपाकी कर्मपुद्गलोंको बांधकर अनन्तर उनके निमित्तसे पूर्वोक्त छह प्रकारके फलरूप अनेक प्रकारकी पर्यायोंमे संसरण करता है, अर्थात् फिरता है। इन पर्यायोंका परिणमन पुद्गलके निमित्तसे होता है। पुनः मुक्तजीवके इस प्रकारका परिणमन नही पाया जाता है। किन्तु वह अपने स्वभावसे ही पर्यायान्तरको प्राप्त होता है। ऐसी स्थितिमे 'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो इदि' अर्थात् 'जिस द्रव्यका स्वभाव द्रव्यान्तरसे प्रतिबद्ध है' इति।

इस प्रकरणके मिलानके लिए हमने वीरसेन स्वामीके धवलान्तर्गत निबन्धन अधिकारको निकाला। वहां आदिमे ही निबंधके छह निक्षेपोंका कथन विद्यमान है और उनमें तृतीय द्रव्यनिक्षेपका कथन शब्दश ठीक वही है जो पचिकाकारने अपने अर्थ देनेसे ऊपरकी पक्तिमे उद्धृत किया है और उसीका उन्होने अर्थ कहा है। यथा–

णिबंधणेत्ति अणियोगद्दारे णिबंधण ताव अत्थदणिबंधणणिराकरणट्ठं णिक्खिवियव्वं। तं जहा–णामणिबंधणं, ठवणणिबंधणं, दव्वणिबंधणं, खेत्तणिबंधणं, कालणिबंधणं, भावणिबंधणं चेदि छव्विहं णिबंधणं होदि।

इसके पश्चात् नाम और स्थापना निबंधनका स्वरूप बतलाया गया है और उसके पश्चात् द्रव्यनिबंधनका वर्णन इस प्रकार है।

जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि, **जस्स वा सद्दस्स (दव्वस्स) सहावो दव्वंतरपडिबद्धो** तं दव्वणिबंधणं। (धवला क. प्रति, पत्र १२६०)

प्रतिमें 'सद्दस्स' पद अशुद्ध है, वहां 'दव्वस्स' पाठ ही होना चाहिए। यहां वाक्यके ये शब्द 'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो' ठीक वे ही हैं, जो पंजिकामें भी पाये जाते है और इन्ही शब्दोंका पंजिकाकारने 'एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि' आदि वाक्योंमें अर्थ किया है। यथार्थतः जितना वाक्यांश पंजिकामे उद्धृत है, उतने परसे उसका अर्थ व्यवस्थित करना कठिन है। किन्तु धवलाके उक्त पूरे वाक्यको देखनेमात्रसे उसका रहस्य एकदम खुल जाता है। इसपरसे पंजिकाकारकी शैली यह जान पड़ती है कि आधारग्रन्थके सुगम प्रकरणको तो उसके अस्तित्वकी सूचनामात्र देकर छोड़ देना और केवल कठीन स्थलोका अभिप्राय अपने शब्दोंमें समझाकर और उसी सिलसिलेमे मूलके विवक्षितपदोंको लेकर उनका अर्थ कर देना। इसपरसे पंजिकाकारकी उस प्रतिज्ञाका भी स्पष्टीकरण हो जाता है, जहां उन्होंने कहा है कि 'तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो' अर्थात् उन अठारह अनुयोगद्वारोंका विषय बहुत गहन होनेसे हम उनके अर्थकी दृष्टिसे विषमपदोका व्याख्यान करते हैं और ऐसा करनेमें मूलके केवल थोडेसे उद्धरण लेंगे। यही पंचिकाका स्वरूप है। मूलग्रन्थके वाक्योंको अपनी वाक्यरचनामे लेकर अर्थ करते जाना अन्य टीकाग्रन्थोमे भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, विद्यानन्दिकृत अष्टसहस्रीमें अकलंकदेवकृत अष्टशती इसी प्रकार गुंथी हुई है। पंजिकाकी यह विशेषता है कि उसमें पूरे ग्रन्थका समावेश नही किया जाता, केवल विषयपदोको ग्रहण कर समझाया जाता है।

सत्कर्मपंचिकाके उक्त अवतरणके पश्चात् शास्त्रीजीने लिखा है–

"इस प्रकार छह द्रव्योंके पर्यायान्तरका परिणमन विद्वान-विवरण होनेके बाद निम्न प्रकार प्रतिज्ञा वाक्य है–

संपहि पक्कमाहियारस्स उक्कस्सपक्कमदव्वस्स उत्तप्पाबहुगविवरणं कस्सामो। तं जहा– अप्पच्चक्खाणमाणस्स उक्कस्सपक्कमदव्वं थोवं। कुदो?" इत्यादि।

आगे चलकर कहा गया है–

चत्तारि आउगाणं णीचुच्चागोदाणं पुणो एक्कारस-पयडीणं सगसेसछप्पण्णबंधपयडिसूचयणमिदि। चउसट्ठिपयडीणमप्पाबहुगं गंथयारेहि परूविद। अम्हेहि पुणो सूचिदपयडीणमप्पाबहुगं गंथउत्तप्पाबहुगबलेण परूविदं। ..... एवं पक्कमाणिओगो गदो।

आगे चलकर पुनः आया है–

एत्थ पयडीसु जहण्णपक्कमदव्वाणं अप्पाबहुगं उच्चदे। तं जहा– सव्वत्थोवमपच्चक्खाणमाणे पक्कमदव्वं। कुदो? इत्यादि।

यहां उपर्युक्त निबंधन अधिकारके पश्चात् प्रक्रम अधिकारका प्रारम्भ बतलाया है और क्रमशः उसके उत्कृष्ट और जघन्य प्रक्रम द्रव्यके अल्पबहुत्वका कथन किया है, तथा इस बातकी सूचना कि है कि चौसठ प्रकृतियोका अल्पबहुत्व ग्रन्थकारने स्वय कर दिया है, अत हम यहां केवल उनके द्वारा सूचित प्रकृतियोका अल्पबहुत्व उक्त ग्रन्थोक्त अल्पबहुत्वके बलसे करते है। धवलामे भी निबधन अनुयोगद्वारके पश्चात् आठवे अनुयोग प्रक्रमका वर्णन है और वहां उत्तरप्रकृतिप्रक्रमके उत्कृष्टउत्तरप्रकृतिप्रक्रम और जघन्यउत्तरप्रकृतिप्रक्रम ऐसे दो भेद करके वर्णन प्रारम्भ किया गया है। तथा वहा वह सब अल्पबहुत्व पाया जाता है जो पंचिकाकारने स्वीकार किया है और जिसके सम्बन्धमे शकादि उठाकर उचित समाधान किया है।

उत्तरपयडिपक्कमो दुविहो, उक्कस्सउत्तरपयडिपक्कमो जहण्णउत्तरपयडिपक्कमो चेदि। तत्थ उक्कस्सए पयदं। सव्वत्थोव अपच्चक्खाणकसायमाणपदेसग्ग। अपच्चक्खाणकोधे विसेसाहिया।..... जहण्णए पयद। सव्वत्थोवमपच्चक्खाणमाणे पक्कमदव्वं। कोधे विसेसाहिया। ..... एवं पक्कमे त्ति समत्तमणिओगद्दार। (धवला क प्रति पत्र १२६६-६७)

प्रक्रम अधिकारके पश्चात् पंचिकामे उपक्रमका वर्णन इस प्रकार प्रारभ होता है-

उवक्कमो चउव्विहो-बंधणोवक्कमो उदीरणोवक्कमो उवसामणोवक्कमो विपरिणामोवक्कमो चेदि। तत्थ बधणोवक्कमो चउव्विहो पयडि-ठिदि-अणुभागपदेसबधणोवक्कमणभेदेण। पुणो एदेसिं चउण्ण पि बधणोवक्कमाण अत्थो जहा सत्तकम्मपाहुडम्मि उत्तो तहा वत्तव्वो। सत्तकम्मपाहुडम्मि णाम कदमं! महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउव्वीसमणियोगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम। तस्स सोलसाणियोगद्दारेसु चउत्थ-छठ्ठम-सत्तमणियोगद्दाराणि दव्व-काल-भावविहाणणामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पंचमो पयडिणामाहियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठकम्माणं पयडि-ठिदि-अणुभाग-पदेससत्ताणि परूविय सूचिदुत्तरपयडि-ठिदि-अणुभाग-पदेससत्तादो। एदाणि सत्तकम्मपाहुडं णाम। मोहणीय पडुच्च कसायपाहुड पि होदि। (सत्कर्मपंचिका)

यहा उपक्रमके चार भेदोंका उल्लेख करके प्रथम बंधन उपक्रमके, पुनः प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चार प्रभेदोके विषयमे यह बतलाया गया है कि इनका अर्थ जिस प्रकार सतकम्मपाहुडमे किया गया है उसीप्रकार करना चाहिए। उस संतकम्मपाहुडसे भी प्रकृतमें वेदनानुयोगद्वारके तीन और प्रकृति अनुयोगद्वारके चार अधिकारोंसे अभिप्राय है। यहां भी पंचिकाकार स्पष्टतः धवलाके निम्न उल्लिखित प्रकरणका विवरण कर रहे है-

जो सो कम्मोवक्कमो सो चउव्विहो, बंधणउवक्कमो उदीरणउवक्कमो उवसामणउवक्कमो उपरिणामउवक्कमो चेदि।.....जो सो बंधणउवक्कमो सो चउव्विहो, पयडिबंधणउवक्कमो ठिदिबंधण-उवक्कमो अणुभागबंधणउवक्कमो पदेसबंधणउवक्कमो चेदि। ..... एत्थ एदेसिं चउण्हमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं तहा परूवेयव्व। जहा महाबंधे परूविद, तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे? ण, तस्स पढमसमयबधम्मि चेव वावारादो। ण च तमेत्थ वोत्तुं जुत्तं, पुणरुत्तदोसप्पसंगादो। (धवला क पत्र १२६७)

यहा जो बंधनके चारो उपक्रमोंका प्ररूपण महाबंधके अनुसार न करके सतकम्मपाहुडके अनुसार करनेका निर्देश किया गया है, उसीका पंचिकाकारने स्पष्टीकरण किया है कि महाकम्मपयडिपाहुडके किन किन विशेष अधिकारोंसे यहां सतकम्मपाहुड पदद्वारा अभिप्राय है।

पचिकामें उपक्रम अधिकारके पश्चात् उदयअनुयोगद्वारका कथन है जैसा उसके अन्तिम भागके अवतरणसे सूचित होता है। यथा–

उदयाणियोगद्दारं गदं।

यहांके कोई विशेष अवतरण हमें उपलब्ध नही हुए। अतः धवलासे मिलान नहीं किया जा सका। तथापि उपक्रमके पश्चात् उदय अनुयोगद्वारका प्ररूपण तो है ही। उक्त पंचिका यही समाप्त हो जाती है। इससे जान पड़ता है कि इस पंचिकामें केवल निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय इन्ही चार अधिकारोंका विवरण है। शेष मोक्ष आदि चौदह अनुयोगोंका उसमे कोई विवरण यहां नही है। इससे जान पड़ता है कि यह पंचिका भी अधूरी ही है, क्योंकि, पंचिकाकी उत्थानिकामे दी गई सूचनासे ज्ञात होता है कि पंचिकाकार शेष अठारहों अधिकारोंकी पंचिका करनेवाले थे। शेष ग्रन्थभाग उक्त प्रतिमे छूटा हुआ है, या पंचिकाकारद्वारा ही किसी कारणसे रचा नही गया, इसका निर्णय वर्तमानमें उपलब्ध सामग्री परसे नही हो सकता।

यह पंचिका किसकी रची हुई है, कब रची गई, इत्यादि खोजकी सामग्रीका भी अभी अभाव है। पंचिका प्रतिकी अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है–

श्री जिनपदकमलमधुव्रत–
ननुपम सत्पात्रदाननिरतं सम्य–
क्त्ववनिधानं किसे वधू–
मनसिजनेने शांतिनाथ नेसेवं धरेयोलू ॥

धरेयोलू .....पुरजिदनुपमं चारुचारित्रनादुन्नतवैर्यं सादिपर्यंत रदिय नेनिसि पेंपिंगुणानीकदिं ..... सद्भूक्तियादेशदिं सत्कर्मदा पंचियं विस्तरदिं श्रीमाघणंदिव्रतिगे बरेसिदं रागदिं शांतिनाथं ॥

उदविदमुदविं सत्क–
मंद पंजियननुपमाननिर्वाणसुख–
प्रदमं बरेयिसि शान्तं
मदरहितं माघणंदियतिपतिगित्तं ॥

श्री माघनंदिसिद्धान्तदेवर्गे सत्कर्मपंजियं श्रीमदुदयादित्यं प्रतिसमानं बरेदं ॥ मंगलं महा ॥

पं. लोकनाथजी शास्त्रीके सूचनानुसार इस 'अन्तिम प्रशस्तिमे दो तीन कानडीमें कंदवृत्तपद्य है जो कि शान्तिनाथ राजाके प्रशंसात्मक पद्य है। उक्त राजाने 'सत्कर्मपंचिका' को बिस्तारसे लिखवाकर भक्तिके साथ श्री माघनंद्याचार्यजीको दे दिया। प्रति लिखनेवाला श्री उदयादित्य है।

इसके ताडपत्रोंकी संख्या २७ और ग्रन्थ–प्रमाण लगभग ३७२६ श्लोकके है।

३ महाबंध-परिचय

मूडबिद्रीकी महाधवल नामसे प्रसिद्ध ताडपत्रीय प्रतिके पत्र २७ पर पूर्वोक्त सत्कर्मपंजिका समाप्त हुई है। २८ वां ताडपत्र प्राप्त नही है। आगे जो अधिकार-समाप्तीकी व नवीन अधिकार-प्रारंभकी प्रथम सूचना पाई जाती है वह इस प्रकार है—

एवं पगदिसमुक्कित्तणा समत्तं(त्ता)। जो सो सव्वबंधो णो सव्वबंधो. इत्यादि।

तथा 'एवं कालं समत्तं' 'एवं अंतरं समत्तं' इत्यादि।

पं. लोकनाथजी शास्त्रीके शब्दोमे 'इस रीतिसे भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्वका वर्णन है'। अल्पबहुत्वकी समाप्ति-पुष्पिका इस प्रकार है—

एवं परत्थाणअद्धाअप्पाबहुगं समत्तं। एव पगदिबंधो समत्तो।

इस थोडेसे विवरणसे ही अनुमान हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रंथरचना महाबंधके विषयसे संबन्ध रखती है। हम प्रथम भागकी भूमिकाके पृष्ठ ६७ पर धवला और जयधवलाके दो उद्धरण दे चुके है, जिनमें कहा गया है कि महाबन्धका विषय बंधविधानके प्रकृति, स्थिती, अनुभाग और प्रदेश, इन चारो प्रकारोका विस्तारसे वर्णन करना है। इन प्रकारोंका कुछ और विषय-विभाग धवला प्रथम भागके पृष्ठ १२७ आदि पर पाया जाता है जहां जीवट्ठाणकी प्ररूपणाओंका उद्गमस्थान बतलाते हुए कहा गया है—

बंधविहाणं चउव्विहं। तं जहा- पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो, मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि। तत्थ जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्पो। जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, एगेगुत्तरपयडिबंधो अव्वोगाढउत्तरपयडिबंधो चेदि। तत्थ जो सो एगेगुत्तरपयडिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति। तं जहा- समुक्कित्तणा सव्वबंधो णोसव्वबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्धुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधंतर बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भगविचयो भागाभागाणुगमो परिमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि।

यहा प्रकृतिबंध विधानके एकैकोत्तरप्रकृतिबधके अन्तर्गत जो अनुयोगद्वार गिनाये गये हैं, उनमेंसे आदिके समुत्कीर्तना सर्वबध और नोसर्वबध, इन तीन, तथा अन्तके भंगविचयादि नौ अनुयोगद्वारोका उल्लेख महाधवलाकी उक्त ग्रंथरचनाके परिचयमें भी पाया जाता है। अतः यह भाग महाबंधके प्रकृतिबंधविधान अधिकारकी रचनाका अनुमान किया जा सकता है। यह प्रकृतिबंध ताडपत्र ५० पर अर्थात् २३ पत्रोंमे समाप्त हुआ है।

प्रकृतिबंध अधिकारकी समाप्तिके पश्चात् महाधवलमे ग्रंथरचना इस प्रकार है—

'णमो अरहंताणं' इत्यादि।

एत्थो ठिदिबंधो दुविधो, मूलपगदिठिदिबंधो चेव उत्तरपगडिठिदिबंधो चेव। एत्थो मूलपगडिठिदिबंधो पुव्वगमणिज्जो। तत्थ इमाणि चत्तारि अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति। तं जहा-ठिदिबंधठाणपरूवणा,

णिसेयपरूवणा अद्धाकंडयपरूवणा अप्पाबहुगेत्ति ।..... . एव भूयो ठिदिअप्पाबहुगं समत्तं । एवं मूलपगदिठिदिबंधो (बे) चउव्वीसमणियोगद्दार समत्त ।

भुजगारबधेत्ति ।..... . ...

'इसप्रकार भुजगारबध प्रारंभ होकर काल, अतर इत्यादि अल्पबहुत्व तक चला गया है।'

एवं जीवसमुदाहरेत्ति समत्तमणियोगद्दाराणि । एव ठिदिबंधं समत्तं ।

बंधविधानके इस स्थितिबधनामक द्वितीय प्रकारका भी कुछ परिचय धवला प्रथम भागसे मिलता है । पृ. १३० पर कहा गया है—

ट्ठिदिबंधो दुविहो, मूलपयडिट्ठिदिबंधो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो चेदि । तत्थ जो सो मूलपडियट्ठिदिबंधो सो थप्पो । जो सो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्दाराणि । तंजहा–अद्धाछेदो, सव्वबंधो..... इत्यादि ।

यहां स्थितिबंधके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति, इसप्रकार दो भेद करके उनमेंसे प्रथमको अपकृत होनेके कारण छोडकर प्रस्तुतोपयोगी द्वितीय भेदके चौवीस अनुयोगद्वार बतलाये गये हैं । इनसे पूर्वोक्त महाधवलकी रचनाके महाबधसे संबंधकी सूचना मिलती है ।

यह स्थितिबध ताडपत्र ५१ से ११३ अर्थात् ६३ पत्रोंमे समाप्त हुआ है ।

इनसे आगे महाधवलमे क्रमश: अनुभागबंध और फिर प्रदेशबंधका विवरण पाया जाता है । यथा—

एवं जीवसमुदाहरेत्ति समत्तमणियोगद्दाराणि । एवं उत्तरपगदिअणुभागबंधो समत्तो । एवं अणुभागबंधो समत्तो । × × × ×

जो सो पदेसबंधो सो दुविधो, मूलपगदिपदेसबंधो चेव उत्तरपगदिपदेसबधो चेव । एत्तो मूलपयडिपदेसबंधो पुव्वं गमणीयो भागाभागसमुदाहारो अट्ठविधबंधगस्स आउगभावो × × × × एवं अप्पाबहुगं समत्त । एवं जीवसमुदाहारेत्ति समत्तमणियोगद्दार । एव पदेसबध समत्तं ।

एव बधविधाणेत्ति समत्त मणियोगद्दारं । एव चदुबन्धो समत्तो भवदि ।

अनुभागबंध ताडपत्र ११४ से १६९ अर्थात् ५६ पत्रोंमें व प्रदेशबंध १७० से २१९ अर्थात् ५० पत्रोमे समाप्त हुआ है ।

यही महाधवल प्रतिकी ग्रंथरचना समाप्त होती है । इस सक्षिप्त परिचयसे स्पष्ट है कि महाधवल प्रतिके उत्तर भागमे वध विधानके चारों प्रकारों-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका विस्तारसे वर्णन है, तथा उनके भेद-प्रभेदों व अनुयोगद्वारोंका विवरण धवलादि ग्रथोंमें संकेतित विषय-विभागके अनुसार ही पाया जाता है । अतएव यही भूतबलि आचार्यकृत महाबध हो सकता है । दुर्भाग्यत: इसके प्रारभका ताडपत्र अप्राप्य होनेसे तथा यथेष्ट अवतरण न मिलनेसे जितनी जैसी चाहिये उतनी छानबीन ग्रथकी फिर भी नही हो सकी । तथापि अनुभागवध विधानकी समाप्तिके पश्चात् प्रतिमें जो पाच छह कनाडीके कंद-वृत्त पद्य पाये जाते है, उनमेसे एक शास्त्रीजीने पूरा उद्धृत करके भेजनेकी कृपा की है, जो इस प्रकार है—

सकलधरित्रीविनुत—
प्रकटितयधीशे मल्लिकब्बे बरेसि सत्पु-
ण्याकर-महाबधद पु—
स्तकं श्रीमाघनंदिमुनिगळि गित्तळू

इस पद्यमें कहा गया है कि श्रीमती मल्लिकाम्बा देवीने इस सत्पुण्याकर महाबधकी पुस्तकको लिखाकर श्रीमाघनन्दि मुनिको दान की। यहा हमें इस ग्रन्थके महाबंध होनेका एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन उल्लेख मिल गया। शास्त्रीजीकी सूचनानुसार शेष कनाडी पद्योंमेंसे दो तीनमें माघनन्द्याचार्यके गुणोंकी प्रशंसा की गई है, तथा दो पद्योंमे शान्तिसेन राजा व उनकी पत्नी मल्लिकाम्बा देवीका गुणगान है, जिससे महाबंध प्रतिका दान करनेवाली मल्लिकाम्बा देवी किसी शांतिसेन नामक राजाकी रानी सिद्ध होती है। ये शान्तिसेन व माघनन्दि निःसदेह वे ही हैं जिनका सत्कर्मपंजिकाकी प्रशस्तिमे भी उल्लेख आया है। प्रतिके अन्तमें पुनः ५ कनाडीके पद्य हैं जिनमेसे प्रथम चारमे माघनन्दि मुनीन्द्रकी प्रशंसा की गई है व उन्हे 'यतिपति' 'व्रतनाथ' व 'व्रतिपति' तथा 'सैद्धान्तिकाग्रेसर' जैसे विशेषण लगाये गये है। पाचवें पद्यमे कहा गया है कि रूपवती सेनवधूने श्रीपंचमीव्रतके उद्यापनके समय (यह शास्त्र) श्रीमाघनन्दि व्रतिपतिको प्रदान किया। यथा—

श्रीपंचमियं नोतुद्यापनेयं माडि बरेसि राद्धांतमना।
रूपवती सेनवधू जितकोप श्रीमाघनन्दि व्रतिपति गित्तल॥

यहां सेनवधूसे शान्तिसेन राजाकी पत्नीका ही अभिप्राय है। नामके एक भागसे पूर्णनामको सूचित करना सुप्रचलित है।

यह अन्तकी प्रशस्ति वीरवाणीविलास जैनसिद्धान्त भवनकी प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) में पूर्ण प्रकाशित है।

उक्त परिचयमे प्रतिके लिखाने व दान किये जानेका कोई समय नही पाया जाता। शान्तिसेन राजाका भी इतिहासमें जल्दी पता नही लगता। माघनन्दि नामके मुनि अनेक हुए है जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोला आदिके शिलालेखोंमें पाया जाता है। जब शान्तिसेन राजाके उल्लेखादि संबन्धी पूर्ण पद्य प्राप्त होगे, तब धीरे धीरे उनके समयादिके निर्णयका प्रयत्न किया जा सकेगा।

हम ऊपर कह आये है कि इस प्रतिमे महाबध रचनाके प्रारम्भका पत्र २८वा नही है। शास्त्रीजीकी सूचनानुसार प्रतिमें पत्र नं १०९, ११४, १७३, १७४, १७६, १७७, १८३, १८४, १८५, १८६, १८८, १९७, २०८, २०९ और २१२ भी नहीं हैं। इस प्रकार कुल १६ पत्र नहीं मिल रहे हैं। किन्तु शास्त्रीजीकी सूचना है कि कुछ लिखित ताडपत्र बिना पत्रसंख्याके भी प्राप्त है। संभव है यदि प्रयत्न किया जाय तो इनमेसे उक्त त्रुटिकी कुछ पूर्ति हो सके।

४ उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति पर कुछ और प्रकाश

प्रथम भागकी प्रस्तावनामे[1] हम वर्तमान ग्रंथभाग अर्थात् द्रव्यप्रमाणप्ररूपणामें के[2] तथा अन्यत्रसे तीन चार ऐसे अवतरणोंका परिचय करा चुके है जिनमे 'उत्तरप्रतिपत्ति' और 'दक्षिणप्रतिपत्ति' इस प्रकारकी दो भिन्न भिन्न मान्यताओंका उल्लेख पाया जाता है। वहां हम कह आये है कि 'हमने इन उल्लेखोका दूसरे उल्लेखोकी अपेक्षा कुछ विस्तारसे परिचय इस कारणसे दिया है क्योंकि यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। संभव है जिनसे धवलाकारका तात्पर्य जैनसमाजके भीतरकी किन्ही विशेष सांप्रदायिक मान्यताओंसे ही हो' यहां हमारा सकेत यह था कि संभवतः यह श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता भेद हो और यह बात उक्त प्रस्तावनाके अन्तर्गत अंग्रेजी वक्तव्यमे मैंने व्यक्त भी कर दी थी कि—

"At present I am examining these views a bit more closely. They may ultimately turn out to be the Svetambara and Digambara Schools".

उक्त अवतरणोमे दक्षिणप्रतिपत्तिको 'पवाइज्जमाण' और 'आयरियपरंपरागय' भी कहा है। अब श्रीजयधवलमे एक उल्लेख हमे ऐसा भी दृष्टिगोचर हुआ है जहां 'पवाइज्जंत' तथा 'आइरियपरंपरागय' का स्पष्टार्थ खोलकर समझाया गया है और अज्जमंखुके उपदेशको वहां 'अपवाइज्जमाण' तथा नागहस्ति क्षमाश्रमणके उपदेशको 'पवाइज्जंत' बतलाया है। यथा—

को पुण पवाइज्जंतोवएसो णाम वुत्तमेदं ? सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतो त्ति घेत्तव्वो।

(जयधवला अ. पत्र ९०८)

अर्थात् यहां जो 'पवाइज्जंत' उपदेश कहा गया है उसका अर्थ क्या है? जो सर्व आचार्योंको सम्मत हो, चिरकालसे अव्युच्छिन्नसप्रदाय-क्रमसे आ रहा हो और शिष्यपरंपरासे प्रचलित और प्रज्ञापित किया जा रहा हो वह 'पवाइज्जंत' उपदेश कहा जाता है। अथवा, भगवान् अज्जमंखुका उपदेश यहां (प्रकृत विषयपर) 'अपवाइज्जमाण' है, तथा नागहस्ति-क्षपणका उपदेश 'पवाइज्जंत' है, ऐसा ग्रहण करना चाहिये।

अज्जमंखु और नागहस्तिके भिन्न मतोपदेशोके अनेक उल्लेख इन सिद्धान्त ग्रन्थोंमे पाये जाते है, जिनकी कुछ सूचना हम उक्त प्रस्तावनामे दे चुके है। जान पडता है कि इन दोनों आचार्योंका जैनसिद्धान्तकी अनेक सूक्ष्म बातोपर मतभेद था। जहां वीरसेनस्वामीके संमुख ऐसे मतभेद उपस्थित हुए, वहां जो मत उन्हे प्राचीन परंपरागत ज्ञात हुआ, उसे 'पवाइज्जमाण' कहा।

---

१. षट्खंडागम भाग, १ भूमिका पृष्ठ ५७.

२. देखो पृ. ९२, ९४, ९८ आदि, मूल व अनुवाद.

तथा जिस मतकी उन्हें प्रामाणिक प्राचीन परंपरा नही मिली, उसे 'अपवाइज्जमाण' कहा है। प्रस्तुत उल्लेखसे अनुमान होता है कि उक्त प्रतिपत्तियोसे उनका अभिप्राय किन्ही विशेष गढी हुई मतधाराओंसे नही था। अर्थात् ऐसा नही था कि किसी एक आचार्यका मत सर्वथा 'अपवाइज्जमाण' और दूसरेका सर्वथा 'पवाइज्जमाण' हो। किन्तु इन्हें दक्षिणप्रतिपत्ति और उत्तरप्रतिपत्ति क्यों कहा है यह फिर भी विचारणीय रह जाता है।

५ णमोकारमंत्रके सादित्व-अनादित्वका निर्णय।

द्वितीय भागकी प्रस्तावना (पृ ३३ आदि) मे हम प्रगट कर चुके हैं कि धवलाकारने जीवट्ठाणखंड व वेदनाखंडके आदिमे जो शास्त्रके निबद्धमंगल व अनिबद्धमंगल होनेका विचार किया है उसका यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवट्ठाणके आदिमें णमोकारमंत्ररूप मंगल भगवान् पुष्पदंतकृत होनेसे यह शास्त्र निबद्धमंगल है, किन्तु वेदनाखंडके आदिमे 'णमो जिणाणं' आदि नमस्कारात्मक मंगलवाक्य होनेपर भी वह शास्त्र अनिबद्धमंगल है, क्योंकि वे मंगलसूत्र स्वयं भूतबलिकी रचना न होकर गौतमगणधरकृत है। वेदनाखंडमें भी निबद्धमंगलत्व तभी माना जा सकता है, जब वेदनाखंडको महाकर्मप्रकृतिपाहुड मान लिया जाय और भूतबलि आचार्यको गौतम गणधर। अन्य किसी प्रकारसे निबद्धमंगलत्व सिद्ध नही हो सकता। इस विवेचनसे धवलाकारका यह मत स्पष्ट समझमे आता है कि उपलब्ध णमोकारमत्रके आदि रचयिता आचार्य पुष्पदंत ही है।

प्रथम भागमें उक्त विवेचनसम्बन्धी मूलपाठका संपादन व अनुवाद करते समय हस्तलिखित प्रतियोंका जो पाठ हमारे सन्मुख उपस्थित था उसका सामञ्जस्य बैठाना हमारे लिये कुछ कठिन प्रतीत हुआ और इसीसे हमे वह पाठ कुछ परिवर्तित करके मूलमें रखना पडा। तथापि प्रतियोंका उपलब्ध पाठ यथावत् रूपसे वही पादटिप्पणमें दे दिया था (देखो प्रथम भाग पृ. ४१)। किन्तु अब मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रतिसे जो पाठ प्राप्त हुआ है वह भी हमारे पादटिप्पणमें दिये हुए प्रतियोंके पाठके समान ही है। अर्थात्—

"जो सुत्तसादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवताणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तसादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धदेवताणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं"

अब वेदनाखंडके आदिमें दिये हुए धवलाकारके इसी विषयीसबन्धी विवेचनके प्रकाशमें यह पाठ समुचित जान पडता है। इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

"जो सूत्रग्रंथके आदिमे सूत्रकारद्वारा देवतानमस्कार किया जाता है, अर्थात् नमस्कार-वाक्य स्वयं रचकर निबद्ध किया जाता है उसे निबद्धमंगल कहते है। और जो सूत्रग्रंथके आदिमें सूत्रकारद्वारा देवतानमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् नमस्कारवाक्य स्वयं न रचकर किसी अन्य आचार्यद्वारा पूर्वरचित नमस्कारवाक्य निबद्ध कर दिया जाता है, उसे अनिबद्धमंगल कहते हैं।

इस प्रकार मूडबिद्रीकी प्रति व प्रचलित प्रतियोंके पाठकी पूर्णतया रक्षा हो जाती है, उसका वेदनाखंडके आदिमें किये गये विवेचनसे ठीक सामंजस्य बैठ जाता है, तथा उससे

धवलाकारके णमोकारमंत्रके कर्तृत्वसबन्धी उस मतकी पूर्णतया पुष्टि हो जाती है जिसका परिचय हम विस्तारसे गत द्वितीय भागकी प्रस्तावनामे करा आये है। णमोकारमंत्रके कर्तृत्वसंबन्धी इस निष्कर्षद्वारा कुछ लोगोके मतसे प्रचलित एक मान्यताको बडी भारी ठेस लगती है। वह मान्यता यह है कि णमोकारमत्र अनादिनिधन है, अतएव यह नही माना जा सकता कि उस मत्रके आदिकर्ता पुष्पदन्ताचार्य हैं। तथापि धवलाकारके पूर्वोक्त मतके परिहार करनेका कोई साधन व प्रमाण भी अबतक प्रस्तुत नही किया जा सका। गभीर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि णमोकारमंत्रसंबन्धी उक्त अनादिनिधनत्वकी मान्यता व उसके पुष्पदन्ताचार्यद्वारा कर्तृत्वकी मान्यतामे कोई विरोध नही है। भावकी (अर्थकी) दृष्टिसे जबसे अरिहंतादि पंचपरमेष्ठीकी मान्यता है तभीसे उनको नमस्कार करनेकी भावना भी मानी जा सकती है। किन्तु 'णमो अरिहंताणं' आदि शब्दरचनाके कर्ता पुष्पदन्ताचार्य माने जा सकते हैं। इस बातकी पुष्टिके लिये मै पाठकोंका ध्यान श्रुतावतारसंबन्धी कथानककी ओर आकर्षित करता हू। धवला, प्रथम भाग पृ. ५५ पर कहा गया है कि—

'सुत्तमोइण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहरदेवादो त्ति'

अर्थात् सूत्र अर्थप्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थकरसे और ग्रथरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अवतीर्ण हुआ है।

यहां फिर प्रश्न उत्पन्न होता है—

द्रव्यभावाभ्यामकृत्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति ?

अर्थात् द्रव्य-भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सकता है ?

इसका समाधान किया जाता है—

एतत्सर्वमभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत्। पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुनर्घटत एव।

अर्थात् यह शंका तो तब बनती जब यहां द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती। परतु यहांपर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है।

आगे चलकर पृष्ठ ६० पर कर्ता दो प्रकारका बतलाया है, एक अर्थकर्ता व दूसरा ग्रंथकर्ता। और फिर विस्तारके साथ तीर्थंकर भगवान् महावीरको श्रुतका अर्थकर्ता, गौतम-गणधरको द्रव्यश्रुतका ग्रंथकर्ता तथा भूतबलि-पुष्पदन्तको भी खडसिद्धान्तकी अपेक्षा कर्ता या उपतंत्रकर्ता कहा है। यथा—

'तत्थ कत्ता दुविहो, अत्थकत्ता गंथकत्ता चेदि। महावीरोऽर्थकर्ता।... एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता। ... तदो भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्वट्ठदाए गोदमो कत्ता। तत्तो गंथरयणा जादेति।... तदो एग खंडसिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति। तदो मूलततकत्ता वड्ढमाणभडारओ, अणुतंतकत्ता गोदमसामी, उवतंतकत्तारा भूदबलि-पुप्फयंताइयो त्ति घेत्तव्वं। तीयरायदोसमोहा मुणिवरा। किमर्थं कर्ता प्ररूप्यते? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम्, 'वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायात्। (षट्खडागम भाग १, पृष्ठ ६०–७२)

उसी प्रकार स्वयं धवल ग्रंथ आगम है, तथापि अर्थकी दृष्टिसे अत्यन्त प्राचीन होनेपर भी उपलभ्य शब्दरचनाकी दृष्टिसे उसके कर्ता वीरसेनाचार्य ही माने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि णमोकारमन्त्रको द्रव्यार्थिक नयसे पुष्पदन्ताचार्यसे भी प्राचीन मानने व पर्यायार्थिक नयसे उपलब्ध भाषा व शब्दरचनाके रूपमें पुष्पदन्ताचार्यकृत माननेमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान प्राकृत भाषात्मक रूपमें तो उसे सादि ही मानना पड़ेगा। आज हम हिन्दी भाषामें उसी मन्त्रको 'अरिहंतोंको नमस्कार' या अंग्रेजीमें 'Bow to the Worshipful' आदि रूपमें भी उच्चारण करते हैं, किन्तु मन्त्रका यह रूप अनादि क्या, बहुत पुराना भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, हम जानते हैं कि स्वयं प्रचलित हिन्दी या अंग्रेजी भाषा ही कोई हजार आठसौ वर्षसे पुरानी नहीं है। हाँ, इस बातकी खोज अवश्य करना चाहिये कि क्या यह मंत्र उक्त रूपमें ही पुष्पदन्ताचार्यके समयसे पूर्वकी किसी रचनामें पाया जाता है? यदि हां, तो फिर विचारणीय यह होगा कि धवलाकारके तत्संबंधी कथनोंका क्या अभिप्राय है। किन्तु जबतक ऐसे कोई प्रमाण उपलब्ध न हों तबतक अब हमें इस परम पावन मन्त्रके रचयिता पुष्पदन्ताचार्यको ही मानना चाहिये।

६ द्रव्यप्रमाणानुगम

१ द्रव्यप्रमाणानुगमकी उत्पत्ति

षट्खंडागमके प्रस्तुत भागमें जीवद्रव्यके प्रमाणका ज्ञान कराया गया है, अर्थात् यह, यह बतलाया गया है कि समस्त जीवराशि कितनी है, तथा उसमें भिन्न भिन्न गुणस्थानों व मार्गणास्थानोंमें जीवोंका प्रमाण क्या है। स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस अत्यन्त अगाध विषयका वर्णन आचार्योंने किस आधारपर किया है? यह तो पूर्वभागोंमें बता ही आये हैं कि षट्खंडागमका बहुभाग विषय-ज्ञान महावीर भगवान्‌की द्वादशांगवाणीके अंगभूत चौदह पूर्वोंमेंसे द्वितीय आग्रायणीय पूर्वके कर्मप्रकृति नामक एक अधिकार-विशेषमेंसे लिया गया है। उसमेंसे भी द्रव्यप्रमाणानुगमकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—

कर्मप्रकृतिपाहुड, अपरनाम वेदनाकृत्स्नपाहुड (वेयणकसिणपाहुड) के कृति, वेदना आदि चौवीस अधिकारोंमें छठवां अधिकार 'बंधन' है, जिसमें बंधका वर्णन किया गया है। इस बंधन के चार अर्थाधिकार हैं— बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान। इनमेंसे बंधक नामक द्वितीय अधिकारके एकजीवकी अपेक्षा स्वामित्व, एकजीवकी अपेक्षा काल आदि ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। इन ग्यारह अनुयोगद्वारोंमें से पांचवां अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाण नामका है और वहींसे प्रकृत द्रव्यप्रमाणानुगम लिया गया है। (षट्खंडागम, प्रथम भाग, पृ. १२५–१२६)

यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब जीवट्ठाणकी सत्, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर और अल्पबहुत्व ये छह प्ररूपणायें बंधविधानके प्रकृतिस्थानबंध नामक अवान्तर अधिकारके आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे ली गई हैं, तब यह द्रव्यप्रमाणानुगम भी वहींसे क्यों नहीं लिया, क्योंकि, वहां भी तो यह अनुयोगद्वार यथास्थान पाया जाता था? इसका उत्तर यह दिया गया है कि

प्रकृतिस्थानबंधके द्रव्यानुयोगद्वारमें 'इस बंधस्थानके बंधक जीव इतने हैं' ऐसा केवल सामान्य रूपसे कथन किया गया है; किन्तु मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा कथन नहीं किया गया। बंधक अधिकारमें गुणस्थानोंकी अपेक्षा कथन किया गया है, वहां बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव इतने होते है, सासादनसम्यग्दृष्टि जीव इतने हैं; इत्यादि। अतएव जीवट्ठाणमें द्रव्यप्रमाणानुगमके लिये बंधक अधिकारका यही द्रव्यप्रमाणानुगम उपयोगी सिद्ध हुआ।

(देखो षट्खंडागम प्रथम भाग, पृ. १२९)

२ प्रमाणका स्वरूप

द्रव्यप्रमाणानुगमकी उत्पत्ति बतलानेमें जो कुछ कहा गया है उसीसे स्पष्ट है कि यह भिन्न भिन्न गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंमे जीवोंका प्रमाण बतलाया गया है। यह प्रमाण चार अपेक्षाओसे बतलाया गया है– द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव।

१. **द्रव्यप्रमाण**– द्रव्यप्रमाणके तीन भेद हैं– संख्यात, असंख्यात और अनन्त। जो सख्यान पंचेन्द्रियोंका विषय है वह **संख्यात** है। उससे ऊपर जो अवधिज्ञानका विषय है वह **असंख्यात** है और उससे ऊपर जो केवलज्ञानका विषय है वह **अनन्त** है[1]।

संख्यातके तीन भेद हैं– जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गणनाका आदि एकसे माना जाता है। किन्तु एक केवल वस्तुकी सत्ताको स्थापित करता है, भेदको सूचित नहीं करता। भेदकी सूचना दोसे प्रारम्भ होती है और इसीलिये दोको सख्यातका आदि माना है[2]। इसप्रकार **जघन्य संख्यात** दो है। **उत्कृष्ट संख्यात** आगे बतलाये जानेवाले जघन्य परीतासंख्यातसे एक कम होता है। तथा इन दोनों छोरोंके बीच जितनी भी सख्यायें पाई जाती है वे सब **मध्यम संख्यातके** भेद हैं।

असंख्यातके तीन भेद हैं– परीत, युक्त और असंख्यात। इन तीनोंमेंसे प्रत्येक पुनः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका होता है। **जघन्य परीतासंख्यातका** प्रमाण अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका ऐसे चार कुंडोंको द्वीपसमुद्रोंकी गणनानुसार सरसोंसे भर भरकर निकालनेका प्रकार बतलाया गया है, जिसके लिये त्रिलोकसार गाथा १८–३५ देखिये। आगे बतलाये जानेवाले जघन्य युक्तासंख्यातसे एक कम करने पर **उत्कृष्ट परीतासंख्यातका** प्रमाण मिलता है, तथा जघन्य और उत्कृष्ट परीतके बीचकी सब गणना **मध्यम परीतासंख्यातके** भेद रूप है।

जघन्य परीतासंख्यातके वर्गित-संवर्गित करनेसे अर्थात् उस राशिको उतने ही वार गुणित प्रगुणित करनेसे **जघन्य युक्तासंख्यातका** प्रमाण होता है। आगे बतलाये जानेवाले जघन्य असख्यातासंख्यातसे एक कम **उत्कृष्ट युक्तासंख्यातका** प्रमाण है और इन दोनोंके बीचकी सब गणना **मध्यम युक्तासंख्यातके** भेद हैं।

१ जं सखाणं पंचिंदियविसओ तं सखेज्ज णाम। तदो उवरि ज ओहिणाणविसओ तमसंखेज्जं णाम। तदो उवरि ज केवलणाणस्सेव विसओ तमणंतं णाम। (पृ. २६७–२६८)

२. 'एयादीया गणणा, बीयादीया हवेज्ज सखेज्जा'। (त्रि सा. १६) जघन्यसंख्यात द्विसंख्यं तस्य भेदग्राहकत्वेन एकस्य तदभावात्। (गो जी. जी प्र टीका ११८ गा)

जघन्य युक्तासंख्यातका वर्ग (य × य) **जघन्य असंख्यातासंख्यात** कहलाता है, तथा आगे बतलाये जानेवाले जघन्य परीतानन्तसे एक कम **उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात** होता है और इन दोनोंके बीचकी सब गणना **मध्यम असंख्यातासंख्यातके** भेदरूप है।

जघन्य असंख्यातासंख्यातको तीन वार वर्गित संवर्गित करनेसे जो राशि उत्पन्न होती है उसमे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एक जीव और लोकाकाश इनके प्रदेश तथा अप्रतिष्ठित और प्रतिष्ठित वनस्पतिके प्रमाणको मिलाकर उत्पन्न हुई राशिको पुनः तीन वार वर्गित सवर्गित करना चाहिये। इसप्रकार प्राप्त हुई राशिमे कल्पकालके समय, स्थिति अनुभागबधाध्यवसायस्थानोका प्रमाण तथा योगके उत्कृष्ट अविभागप्रतिच्छेद मिलाकर उसे पुनः तीन वार वर्गित सवर्गित करनेसे जो राशि उत्पन्न होगी वह **जघन्य परीतानन्त** कही जाती है। आगे बतलाये जानेवाले जघन्य युक्तानन्तसे एक कम **उत्कृष्ट परीतानन्त** का प्रमाण है, तथा बीचके सब भेद **मध्यम परीतानन्त** है।

जघन्य परीतानन्तको वर्गित सवर्गित करनेसे **जघन्य युक्तानन्त** होता है। आगे बताये जानेवाले जघन्य अनन्तानन्तसे एक कम **उत्कृष्ट युक्तानन्तका** प्रमाण है, तथा बीचके सब भेद **मध्यम युक्तानन्त** होते हैं।

जघन्य युक्तानन्तका वर्ग **जघन्य अनन्तानन्त** होता है। इस जघन्य अनन्तानन्तको तीन वार वर्गित संवर्गित करके उसमे सिद्ध जीव, निगोदराशि, प्रत्येकवनस्पति, पुद्गलराशि, कालके समय और अलोकाकाश, ये छह राशियां मिलाकर उत्पन्न हुई राशिको पुनः तीन वार वर्गित संवर्गित करके उसमे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यसबन्धी अगुरुलघुगुणके अविभागप्रतिच्छेद मिला देना चाहिये। इस प्रकार उत्पन्न हुई राशिको पुनः तीन वार वर्गित सवर्गित करके उसे केवलज्ञानमेसे घटावे और फिर शेष केवलज्ञानमे उसे मिला देवे। इस प्रकार प्राप्त हुई राशि अर्थात् केवलज्ञानप्रमाण **उत्कृष्ट अनन्तानन्त** होता है। जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तानन्तकी मध्यवर्ती सब गणना **मध्यम अनन्तानन्त** कहलाती है।

(देखो पृ १९-२६ तथा त्रिलोकसार गाथा ८१-५१)

२. **कालप्रमाण**– जीवोका परिमाण जाननेके लिये दूसरा माप कालका लगाया गया है, जिसके भेद प्रभेद इसप्रकार है– एक परमाणुको मद गतीसे एक आकाशप्रदेशसे दूसरे आकाशप्रदेशमे जानेके लिये जो काल लगता है वह **समय** कहलाता है। यह कालका सबसे छोटा, अविभागी परिमाण है। असख्यात (अर्थात् जघन्य युक्तासख्यात प्रमाण) समयोंकी एक **आवलि** होती है। संख्यात आवलियोका एक **उच्छ्वास** या प्राण होता है। सात उच्छ्वासोका एक **स्तोक**, सात स्तोकोंका एक **लव** और साढे अड़तीस लवोंकी एक **नाली** होती है। दो नालीका **मुहूर्त** और तीस मुहूर्तका एक **अहोरात्र** या **दिवस** होता है। वर्तमान कालगणनामें अहोरात्र चौबीस घंटोंका माना जाता है। इसके अनुसार एक मूहूर्त अड़तालीस मिनिटका एक नाली चौबीस मिनिटकी, एक लव ३७$\frac{३१}{७७}$ सेकेडका, एक स्तोक ५$\frac{१८५}{५३६}$ सेकेंडका तथा एक उच्छ्वास $\frac{२८८०}{३७७३}$ सेकेडका पड़ता है। आवलि और समय एक सेकेंडसे बहुत सूक्ष्म काल प्रमाण होता है।

(देखो पृ. ६५, तथा ति. प. ४, २८४-२८८)

यह कालप्रमाण तालिकारूपमें इस प्रकार रखा जा सकता है–

अहोरात्र या दिवस	= ३०	मुहूर्त	=	२४	घंटे
मुहूर्त	= २	नाली	=	४८	मिनिटे
नाली	= ३८॥	लव	=	२४	मिनिट
लव	= ७	स्तोक	=	३७$\frac{37}{77}$	सेकेड
स्तोक	= ७	उच्छ्वास	=	५$\frac{154}{481}$	सेकेंड
उच्छ्वास या प्राण	= संख्यात आवली		=	$\frac{2220}{3773}$	सेकेड
आवलि	= असंख्यात (ज. यु. अस.) समय				
समय	= एक परमाणुके एक आकाशप्रदेशसे दूसरे आकाश-प्रदेशमे मन्द गतीसे जानेका काल				

एक सामान्य स्वस्थ प्राणीके (मनुष्यके) एक वार श्वास लेने और निकालनेमें जितना समय लगता है उसे उच्छ्वास कहते हैं। एक मुहूर्तमे इन उच्छ्वासोंकी संख्या ३७७३ कही गई है, जो उपर्युक्त प्रमाणानुसार इस प्रकार आती है– २×३८$\frac{1}{2}$×७×७=३७७३। एक अहोरात्र (२४ घंटे)में ३७७३×३०=१,१३,१९० उच्छ्वास होते है। इसका प्रमाण एक मिनिटमें $\frac{3773}{98}$=७८.६ आता है, जो आधुनिक मान्यताके अनुसार ही है।

एक मुहूर्तमेसे एक समय कम करने पर **भिन्नमुहूर्त** होता है, तथा भिन्नमुहूर्तसे एक समय कम कालसे लगाकर एक आवलि व आवलिसे कम कालको भी **अन्तर्मुहूर्त** कहा है। (पृ. ६७) इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त सामान्यत: संख्यात आवलि प्रमाण ही होता है, किन्तु कहीं कहीं अन्तर शब्दको सामीप्यार्थक मानकर असंख्यात आवलि प्रमाण भी मान लिया गया है। (पृ. ६९)

पद्रह दिनका एक **पक्ष**, दो पक्षका **मास**, दो मासकी **ऋतु**, तीन ऋतूओंका **अयन**, दो अयनका **वर्ष**, पांच वर्षका **युग**, चौरासी लाख वर्षका **पूर्वांग**, चौरासी लाख पूर्वांगका **पूर्व**, चौरासी पूर्वका **नयुतांग**, चौरासी लाख नयुतांग का **नयुत**, तथा इसी प्रकार चौरासी और चौरासी लाख गुणित क्रमसे **कुमुदांग** और **कुमुद**, **पद्मांग** और **पद्म**, **नलिनांग** और **नलिन**, **कमलांग** और **कमल**, **त्रुटितांग** और **त्रुटित**, **अटटांग** और **अटट**, **अममांग** और **अमम**, **हहांग** और हाहा[1], **हूहांग** और **हूहू**, **लतांग** और **लता**, तथा **महालतांग** और **महालता** क्रमशः होते हैं। फिर चौरासी लाख गुणित क्रमसे **श्रीकल्प** (या शिरःकंप), **हस्तप्रहेलित** (हस्तप्रहेलिका) और **अचलप्र** (चर्चिका) होते हैं। चौरासीको इकतीस वार परस्पर गुणा करनेसे अचलप्रकी वर्षोंका प्रमाण आता है, जो नव्वे शून्यांकोंका होता है[2]। यद्यपि इन नयुतागादि काल गणनाओंका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथभागमे नही आया, तथापि संख्यात गणनाकी मान्यताका कुछ बोध करानेके लिये यह सब यहां दी गई है। यह सब संख्यात (मध्यम)का ही प्रमाण है। इससे कई गुणे ऊपर जाकर उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण होता है जो ऊपर गणना-मापमें बता ही आये है।

१ हाहाग और हाहा नामक संख्याओंके नाम राजवार्तिक व हरिवंशपुराणके कालविवरणमें नही पाये जाते।

२ यह तिलोयपण्णत्तिके अनुसार है। किन्तु चौरासी को इकतीस वार परस्पर गुणित करनेसे $(८४)^{३१}$ Logarithm के अनुसार केवल साठ (६०) अंकप्रमाण ही संख्या आती है।

आगे क्षेत्रप्रमाणमें बतलाये जानेवाले एक प्रमाण योजन (अर्थात् दो हजार कोश) लम्बा चौड़ा और गहरा कुंड बनाकर उसे उत्तम भोगभूमीके सात दिनके भीतर उत्पन्न हुए मेंढेके रोमाग्रो (जिनके और खंड कैचीसे न हो सकें)से भर दे और उनमेंसे एक एक रोमखंडको सौ सौ वर्षमे निकाले। इसप्रकार उन समस्त रोमोंको निकालनेमें जितना काल व्यतीत होगा, उसे **व्यवहारपल्य** कहते है। उक्त रोमोकी कुल सख्या गणितसे ४५ अंक प्रमाण आती है और तदनुसार व्यवहारपल्यका प्रमाण ४५ अक प्रमाण शताब्दियां अथवा ४७ अक प्रमाण वर्ष हुआ।

इस व्यवहारपल्यको असख्यात कोटि वर्षोके समयोसे गुणित करने पर **उद्धारपल्य**का प्रमाण आता है, जिससे द्वीप-समुद्रोंकी गणना की जाती है। इस उद्धारपल्यको असंख्यात कोटि वर्षोके समयोसे गुणित करने पर **अद्धापल्य**का प्रमाण आता है। कर्म, भव, आयु और काय इनकी स्थितीके प्रमाणमे इसी अद्धापल्यका उपयोग होता है। जीवद्रव्यकी प्रमाण-प्ररूपणामे भी यथावश्यक इसी पल्योपमका उपयोग किया गया है। एक करोड़को एक करोडसे गुणा करने पर जो लब्ध आता है उसे **कोड़ाकोड़ी** कहते है। दस कोडाकोडी अद्धापल्योपमोंका एक **अद्धासागरोपम** और दस कोडाकोडी अद्धासागरोपमोंकी एक **उत्सर्पिणी** और इतने ही कालकी एक **अवसर्पिणी** होती है। इन दोनोंको मिलाकर एक **कल्पकाल** होता है।

३. **क्षेत्रप्रमाण**– पुद्गल द्रव्यके उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको परमाणु कहते है जिसका पुनः विभाग न हो सके, जो इंद्रियो द्वारा ग्राह्य नही और जो अप्रदेशी तथा अंत, आदि व मध्य रहित है। एक अविभागी परमाणु जितने आकाशको रोकता है उतने आकाशको एक **क्षेत्रप्रदेश** कहते है। अनन्तानन्त परमाणुओंका एक **अवसन्नासन्न स्कंध**, आठ अवसन्नासन्न स्कंधोंका एक **सन्नासन्न स्कंध**, आठ सन्नासन्न स्कधोका एक **त्रुटरेणु** (त्रुटिरेणु, तूटरेणु), आठ त्रुटरेणुओंका एक **त्रसरेणु**, आठ त्रसरेणुओंका एक **रथरेणु**, आठ रथरेणुओंका **उत्तम भोगभूमीसंबंधी बालाग्र**, आठ उत्तम भोगभूमीसबधी बालाग्रोंका एक **मध्यम भोगभूमीसंबंधी बालाग्र**, आठ मध्यम भोगभूमीसंबधी बालाग्रोंका एक **जघन्य भोगभूमीसंबंधी बालाग्र**, आठ जघन्य भोगभूमीसंबधी बालाग्रोंका एक **कर्मभूमीसंबंधी बालाग्र**, आठ कर्मभूमीसबधी बालाग्रोंकी एक **लिक्षा** (लीख), आठ लिक्षाओका एक **जूं**, आठ जूवोंका एक **यव** (यव-मध्य) और आठ यवोंका एक **अंगुल** होता है। अंगुल तीन प्रकारका है– उत्सेधांगुल, प्रमाणागुल और आत्मागुल। ऊपर जिस अगुलका प्रमाण बतलाया है वह **उत्सेधांगुल** (सूचि) है। पाचसौ उत्सेधागुलोंका एक **प्रमाणांगुल** होता है, जो अपसर्पिणीकालके प्रथम चक्रवर्तीके पाया जाता है। भरत और ऐरावत क्षेत्रमे जिस कालमे सामान्य मनुष्यका जो अगुल प्रमाण होता है वह उस उस कालमे उस उस क्षेत्रका **आत्मांगुल** कहलाता है। मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकियोंके शरीरकी अवगाहना तथा चतुर्निकाय देवोंके निवास और नगरके प्रमाणके लिये उत्सेधांगुल ही ग्रहण किया जाता है। द्वीप, समुद्र, पर्वत, वेदी, नदी, कुड, जगती (कोट), वर्ष (क्षेत्र) का प्रमाण प्रमाणागुलसे किया जाता है, तथा भृंगार, कलश, दर्पण, वेणु, पटह, युग, शयन, शकट, हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालो, अक्ष, चामर, दुदुभि, पीठ, छत्र तथा मनुष्योंके निवास व नगर, उद्यानादिका प्रमाण आत्मागुलसे किया जाता है। छह अगुलोंका **पाद**, दो पादोंकी **बिहस्ति**

(वलिस्त), दो विहस्तियोंका **हाथ**, दो हाथोंका **किष्कु**, दो किष्कुओंका **दंड, युग, धनु, मुसल** व **नाली**, दो हजार दंडोंका एक **कोश** तथा चार कोशोंका एक **योजन** होता है। (ति.प.१,९८-११६)

द्रव्यका अविभागी अंश	= परमाणु	८ जू	= यव
अनन्तानन्त परमाणु	= अवसन्नासन्न स्कंध	८ यव	= उत्सेधांगुल
८ अवसन्नासन्न स्कंध	= सन्नासन्न स्कंध	(५०० उत्सेधांगुल	= प्रमाणांगुल)
८ सन्नासन्न स्कंध	= त्रुटरेणु	६ अंगुल	= पाद
८ त्रुटरेणु	= त्रसरेणु	२ पाद	= विहस्ति
८ त्रसरेणु	= रथरेणु	२ विहस्ति	= हाथ
८ रथरेणु	= उत्तम भो.भू.बालाग्र	२ हाथ	= किष्कु
८ उ. भो. भू. बा.	= मध्यम ,, ,, ,,	२ किष्कु	= दंड, युग, धनु, मुसल या नाली
८ म. भो. भू. बा.	= जघन्य ,, ,, ,,	२००० दंड	= कोस
८ ज. भो. भू. बा	= कर्मभूमि बालाग्र	४ कोस	= योजन
८ क. भू. बालाग्र	= लिक्षा		
८ लिक्षा	= जूं		

अगुलसे आगेके प्रमाण भी आत्म, उत्सेध व प्रमाण अंगुलके अनुसार तीन तीन प्रकारके होते है। एक प्रमाण योजन अर्थात् दो हजार कोश लम्बे, चौडे और गहरे कुडके आश्रयसे अद्धापल्य नामक प्रमाण निकालनेका प्रकार ऊपर कालप्रमाणमे बता आये है। उसी अद्धापल्यके अर्धच्छेद[1] प्रमाण अद्धापल्योंका परस्पर गुणा करनेपर **सूच्यंगुल**का प्रमाण आता है। सूच्यगुलके वर्ग को **प्रतरांगुल** और घनको **घनांगुल** कहते है। अद्धापल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण अथवा मतान्तरसे अद्धापल्यके जितने अर्धच्छेद हो उसके असख्यातवें भागप्रमाण, घनांगुलोंके परस्पर गुणा करने पर **जगत्श्रेणीका** प्रमाण आता है। जगत्श्रेणीके सातवे भाग प्रमाण **रज्जु** होता है, जो तिर्यक् लोकके मध्य विस्तार प्रमाण है। जगत्श्रेणीके वर्गको **जगत्प्रतर** तथा जगत्श्रेणीके घनको **लोक** कहते है।

ये सब अर्थात् पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत्श्रेणी, जगत्प्रतर और लोक उपमा मान है, जिनका उपयोग यथावसर द्रव्य, क्षेत्र और काल, इन तीनों अपेक्षाओसे बतलाये गये प्रमाणोंमे किया गया है। उनका तात्पर्य द्रव्यप्रमाणमे उतनी सख्यासे, कालप्रमाणमे उतने समयोसे तथा क्षेत्रप्रमाणमे उतने ही आकाशप्रदेशोसे समझना चाहिये।

४. **भावप्रमाण**– पूर्वोक्त तीन प्रकारके प्रमाणोके ज्ञानको ही भावप्रमाण कहा है (देखो सूत्र ५)। इसका अभिप्राय यह है कि जहां जिस गुणस्थान व मार्गणास्थानका द्रव्य, काल व क्षेत्रकी अपेक्षासे प्रमाण बतलाया गया है वहां उस प्रमाणके ज्ञानको ही भावप्रमाण समझ लेना चाहिये।

---

१ एक राशि जितनी बार उत्तरोत्तर आधी आधी की जा सके, उतने उस राशिके अर्धच्छेद कहे जाते है।

३ जीवराशिका गुणस्थानोंकी अपेक्षा प्रमाण-प्ररूपण

सर्व जीवराशि अनन्तानन्त है। उसका बहुभाग मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है। तथा शेष एक भाग अन्य तेरह गुणस्थानों और सिद्धोंमे विभाजित है। इनमे भी मिथ्यादृष्टि और सिद्ध क्रमहानिरूपसे अनन्तानन्त है। सासादनादि चार गुणस्थानोंके जीव प्रत्येक राशिमें असख्यात है,[1] तथा शेष प्रमत्तादि नौ गुणस्थानोंके जीव संख्यात हैं जिनकी कुल संख्या तीन कम नौ करोड़ निश्चित है। यद्यपि अनन्तको संख्यामे उतारना भ्रामक हो सकता है, तथापि धवलाकारने उक्त राशियोंके क्रमिक प्रमाणका बोध करानेके लिये सर्व जीवराशिको १६ और इनमेंसे मिथ्यादृष्टि राशिको १३, तथा सासादनादि तेरह गुणस्थानोके जीवों और सिद्धोंका संयुक्त प्रमाण ३ अंकोंके द्वारा सूचित किया है। अब हम यदि इसी अंकसंदृष्टीके आधारसे सभी गुणस्थानों व सिद्धोंका अलग अलग प्रमाण कल्पित करना चाहे, तो स्थूलतः इस प्रकार किया जा सकता है–

चौदह गुणस्थानोंमें जीवराशियोंके प्रमाणकी संदृष्टि

गुणस्थान	प्रमाण		अंकसंदृष्टि	
१. मिथ्यादृष्टि	अनन्त		१३	
*२. सासादन	असंख्य		$\frac{७}{६५}$	$\frac{१५}{६५}$
३. मिश्र	,,		$\frac{१६}{६५}$	
४. अविरतसम्यग्दृष्टि	,,		$\frac{३२}{६५}$	
५. संयतासंयत	,,		$\frac{८}{६५}$	
६. प्रमत्तविरत	५९३९८२०६	८९९९९९९७		$\frac{१}{६५}$
७. अप्रमत्तविरत	२९६९९१०३			
८ अपूर्वकरण	८९७			
९. अनिवृत्तिकरण	८९७			
१०. सूक्ष्मसाम्पराय	८९७			
११. उपशान्तमोह	२९९			
१२. क्षीणमोह	५९८			
१३. सयोगिकेवली	८९८५०२			
१४. अयोगिकेवली	५९८			
सिद्ध	अनन्त		$\frac{२}{१६}$	
सर्वजीवराशि	अनन्त			

१ सासादनसे संयतासंयत तक चारो गुणस्थानोके जीव समुच्चय व पृथक् पृथक् रूपमे भी पल्योपमके असंख्यातवे भाग है। इनमें भी अविरतसम्यग्दृष्टि सबसे अधिक, इनके असंख्यातवे भाग मिश्रगुणस्थानीय, इनके संख्यातवे भाग सासादनगुणस्थानीय तथा इनके असंख्यातवे भाग संयतासंयत जीव हैं।

चौदहों गुणस्थानोंकी जीवराशियोके प्रमाण-प्ररूपणाके पश्चात् उनका भागाभाग और फिर उनका अल्पबहुत्व बतलाया गया है। भागाभागमे सामान्य राशिको लेकर विभाग करते हुए सबसे अल्प राशि तक आये है। अल्पबहुत्वमे सबसे छोटी राशिसे प्रारभ करके गुणा और योग (सातिरेक) करते हुए सबसे बडी राशितक पहुंचे है। इस अल्पबहुत्वका तीन प्रकारसे प्ररूपण किया गया है, स्वस्थान, परस्थान और सर्वपरस्थान। स्वस्थानमे केवल अवहारकाल और विवक्षित राशिका अल्पबहुत्व बतलाया गया है। परस्थानमे अवहारकाल, भाज्य तथा अन्य जो राशियां उनके प्रमाणके बीचमें आ पड़ती है उनका और विवक्षित राशिका अल्पबहुत्व दिखाया गया है। तथा सर्वपरस्थानमें उक्त राशियोके अतिरिक्त अन्य राशियोंसे भी अल्पबहुत्व दिखाया गया है। (पृ. १०१-१२१)

४ जीवराशिका मार्गणास्थानोंकी अपेक्षा प्रमाण-प्ररूपण

गुणस्थानोंमे जीवप्रमाण-प्ररूपणके पश्चात् गति आदि चौदह मार्गणाओ व उनके भेद-प्रभेदोंमे जीवराशिका प्रमाण दिखलाया गया है और यहां प्रत्येक राशिका प्रमाण, भागाभाग और अल्पबहुत्व यथाक्रमसे समझाया गया है। जिस प्रकार गुणस्थानोंमे प्रथम मिथ्यादृष्टीके प्रमाण समझानेमे आचार्यने गणितकी अनेक प्रक्रियाओंका उपयोग करके दिखाया है, उसी प्रकार मार्गणास्थानोंमें प्रथम नरकगतिके प्रमाणप्ररूपणमे भी गणितविस्तार पाया जाता है।

(देखो पृ. १२१-२०५)

उक्त प्रमाण-विवेचन बडी सूक्ष्मता और गहराईके साथ किया गया है, किन्तु आचार्यने अकसदृष्टि कायम नही रखी, जिससे सामान्य पाठकोंको विषयका बोध होना सुगम नही है। अतएव हम यहांपर उन सब मार्गणाओंकी पृथक् पृथक् प्रमाण-प्ररूपक अकसंदृष्टियां आचार्यद्वारा कल्पित अंकोंके आधारसे बनानेका प्रयत्न करते हैं, जिसका मुख्य उद्देश्य अनन्त, असख्यात व सख्यातके भीतर राशियोके अल्पबहुत्वका कुछ स्थूल बोध कराना मात्र है। प्रत्येक मार्गणाके भीतर संपूर्ण जीवराशिका समुच्चय प्रमाण १६ ही रखा गया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टीसे परीक्षण करने पर एक दूसरी मार्गणाओंकी अंकसदृष्टियोंमे परस्पर वैषम्य दृष्टिगोचर हो सकता है। यह सर्वजीवराशिके लिये केवल १६ जैसी अल्प सख्या लेकर समस्त मार्गणाओके प्रभेदोंको उदाहृत करनेमे प्राय: अनिवार्य ही है। एक राशि दूसरी राशिसे जितनी विशेष व जितनी गुणित अधिक है उसका अनुमान इन अंकोंसे कदापि नही करना चाहिये। यहां तो सिर्फ एक मार्गणाके भीतर राशियोंकी परस्पर अधिकता या अल्पताका ही क्रम जाना जा सकता है। यद्यपि गणितके सूक्ष्म विचारसे यह वैषम्य भी सभवत: दूर किया जा सकता था, किन्तु उससे फिर सदृष्टियां सुगम होनेकी अपेक्षा दुर्गम सी हो जाती, जिससे हमारा अभिप्राय पूर्ण नही होता। चूकि यहां प्रत्येक मार्गणाके भीतर जीवराशियोंका प्रमाणक्रम निर्दिष्ट करना अभीष्ट है, अतएव राशियां बहुत्वसे अल्पत्वकी ओर क्रमसे रखी गई हैं, उनके रूढक्रमसे नही। हां, सिद्ध सर्वत्र अन्तकी ओर ही रखे हैं। कही कही राशिके जो अक दिये गये हैं उनसे कुछ अधिक प्रमाण विवक्षित है, क्योंकि, उसमे कोई अन्य अल्प राशि भी प्रविष्ट होती है। ऐसे स्थानोंपर

अंकके आगे घनका चिन्ह + बना दिया गया है और अंक देकर टिप्पणीमे उस विवक्षित राशिका उल्लेख कर दिया गया है। इस दिशामे यह प्रयत्न, जहां तक हमे ज्ञात है, प्रथम ही है। अतः सावधानी रखनेपर भी कुछ त्रुटियां हो सकती है। यदि पाठकोंके ध्यानमे आवें, तो हमें अवश्य सूचित करें।

चौदह मार्गणास्थानोंमें जीवराशियोंके प्रमाणकी संदृष्टियां

(मार्गणा शीर्षकके आगे दी गई पृष्ठसंख्या उस मार्गणाके भागाभागकी सूचक है।)

१ गति मार्गणा (पृ. २०७)

तिर्यंच	देव	नारक	मनुष्य	सिद्ध	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
२०० / १६	१२ / १६	८ / १६	४ / १६	३२ / १६	१६

२ इन्द्रिय मार्गणा (पृ. ३१९)

१ इंद्रिय	२ इंद्रिय	३ इंद्रिय	४ इंद्रिय	५ इंद्रिय	अतींद्रिय	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
१८२ / १६	१४ / १६	१२ / १६	१० / १६	६ / १६	३२ / १६	१६

३ काय मार्गणा (पृ. ३४१)

वनस्पति	वायु	जल	पृथिवी	तेज	त्रस	अकाय	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
१७६ / १६	१६ / १६	१२ / १६	१० / १६	६ / १६	४ / १६	३२ / १६	१६

४ योग मार्गणा (पृ. ४१२)

काय.	वचन.	मन.	अयोगी	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
१८४ / १६	२४ / १६	१६ / १६	३२ / १६ + [1]	१६

१ यहां यह सिद्धोका प्रमाण अयोगिकेवलियोंसे सातिरेक समझना चाहिये।

५ वेद मार्गणा (पृ. ४२१)

नपुंसक	स्त्री	पुरुष	अवेद	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
$\frac{२००}{१६}$	$\frac{२०}{१६}$	$\frac{४}{१६}$	$\frac{३२}{१६}+$ [२]	१६

६ कषाय मार्गणा (पृ. ४३१)

लोभ.	माया.	क्रोध.	मान.	अकषायी.	सर्व जीव
अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त
$\frac{८२}{१६}$	$\frac{५०}{१६}$	$\frac{४८}{१६}$	$\frac{४४}{१६}$	$\frac{३२}{१६}+$ [३]	१६

७ ज्ञान मार्गणा (पृ. ४४२)

कुमति. कुश्रुत.	विभंग.	मति. श्रुत.	अवधि.	मनःपर्याय	केवल.	सर्व जीव
अनन्त	असख्य	असख्य	असख्य	संख्यात	अनन्त	अनन्त
$\frac{८३२}{६४}$	$\frac{३९}{६४}$	$\frac{२०}{६४}$	$\frac{४}{६४}$	$\frac{१}{६४}$	$\frac{१२८}{६४}+$ [४]	१६

८ संयम मार्गणा (पृ. ४५१)

असंयमी	देशसं.	सामा. छेदा.	यथाख्या.	परि. वि.	सू. सां.	सिद्ध	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	सख्यात	सख्यात	सख्यात	सख्यात	अनन्त	अनन्त
$\frac{८३२}{६४}+$ [५]	$\frac{३०}{४६}$	$\frac{२०}{६४}$	$\frac{१०}{६४}$	$\frac{३}{६४}$	$\frac{१}{६४}$	$\frac{१२८}{६४}$	१६

९ दर्शन मार्गणा (पृ. ४५७)

अचक्षु.	चक्षु.	अवधि.	केवल.	सर्व जीव
अनन्त	असख्य	असख्य	अनन्त	अनन्त
$\frac{८३२}{६४}$	$\frac{६०}{६४}$	$\frac{४}{६४}$	$\frac{१२८}{६४}+$ [६]	१६

२ यहां सिद्धोका प्रमाण ९ वे गुणस्थानके अवेद भागसे उपरके समस्त गुणस्थानोकी राशियोसे सातिरेक है।
३ यहां सिद्धोका प्रमाण ११ वे और ऊपरके समस्त गुणस्थानोकी राशियोसे सातिरेक है।
४ यहां सिद्धोका प्रमाण १३ वे और १४ वे गुणस्थानोकी राशियोसे सातिरेक है।
५ यहा मिथ्यादृष्टियोका प्रमाण २ रे, ३ रे और ४ थे गुणस्थानोकी राशियोसे साधिक है।
६ यहां सिद्धोका प्रमाण १३ वे और १४ वे गुणस्थानोकी राशियोसे सातिरेक है।

१० लेश्या मार्गणा (पृ ४६६)

कृष्ण.	नील.	कापोत.	पीत.	पद्म.	शुक्ल.	अलेश्य	सर्व जीव
अनन्त	अनन्त	अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
७६/१६	६७/१६	६५/१६	८/१६	६/१६	२/१६	३२/१६+ [७]	१६

११ भव्य मार्गणा (पृ ४७३)

भव्य	अभव्य	सिद्ध	सर्व जीव
अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त
१९६/१६	२८/१६	३२/१६	१६

१२ सम्यक्त्व मार्गणा (पृ ४७८)

मिथ्यादृ.	क्षायोप.	क्षायिक.	औपश.	मिश्र.	सासा.	सिद्ध	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	असंख्य	अनन्त	अनन्त
२०८/१६	६/१६	४/१६	३/१६	२/१६	१/१६	३२/१६	१६

१३ संज्ञा मार्गणा (पृ ४८३)

असंज्ञी	संज्ञी	अनुभय	सर्व जीव
अनन्त	असंख्य	अनन्त	अनन्त
१९९/१६	२५/१६	३२/१६+ [८]	१६

१४ आहार मार्गणा (पृ. ४८५)

आहारक	अनाहारक		सर्व जीव
	बंधक	अबंधक	
अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त
११	३	२	१६

७ यहां सिद्धोका प्रमाण १४ वे गुणस्थान राशिसे सातिरेक है।

८ यहां सिद्धोका प्रमाण १३ वे और १४ वे गुणस्थानोकी राशियोसे सातिरेक समझना चाहिये।

मार्गणास्थानोंके भीतर बतलाई गई राशियोंका बहुत्वसे अल्पत्वकी ओर क्रम जहांतक हमारे विचारमें आया है, निम्न प्रकार है–

अनन्त	असंख्यात	संख्यात
१ असयमी	२४ वायुकायिक	५६ सामायिकसंयत }
२ अचक्षुदर्शनी	२५ जल „	५७ छेदोपस्थापना „ }
३ कुमति }	२६ पृथिवी „	५८ यथाख्यात „
४ कुश्रुत }	२७ तेज „	५९ केवलज्ञानी }
५ मिथ्यादृष्टि	२८ त्रस „	६० केवलदर्शनी }
६ नपुंसकवेदी	२९ वचनयोगी	६१ परिहारसंयत
७ तिर्यंच	३० द्वीन्द्रिय	६२ मनःपर्ययज्ञानी
८ असंज्ञी	३१ त्रीन्द्रिय	६३ सूक्ष्मसांपरायसंयत
९ काययोगी	३२ चतुरिन्द्रिय	
१० एकेन्द्रिय	३३ चक्षुदर्शनी	
११ वनस्पतिकायिक	३४ पंचेन्द्रिय	
१२ भव्य	३५ संज्ञी	
१३ आहारक	३६ मनोयोगी	
१४ अनाहारक	३७ विभंगज्ञानी	
१५ कृष्ण लेश्या	३८ देवगति	
१६ नील „	३९ स्त्रीवेदी	
१७ कापोत „	४० नारक	
१८ लोभ कषायी	४१ पुरुषवेदी	
१९ माया „	४२ मनुष्य	
२० क्रोध „	४३ पीतलेश्या	
२१ मान „	४४ पद्म „	
२२ सिद्ध	४५ मतिज्ञानी }	
२३ अभव्य	४६ श्रुत „ }	
	४७ अवधि „ }	
	४८ अवधिदर्शनी }	
	४९ शुक्ललेश्या	
	५० क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी	
	५१ क्षायिक „	
	५२ औपशमिक „	
	५३ मिश्र	
	५४ सासादन	
	५५ देशसंयत	

अनन्त राशिया २३, असंख्यात राशियां २४-५५=३२, संख्यात ५६-६३=८; कुल ६३.

इस प्रमाण-प्ररूपणमें स्वभावतः पाठकोंको मनुष्योंके प्रमाणके सम्बधमे विशेष कौतुक हो सकता है। इस आगमानुसार सर्व मनुष्योंकी संख्या असंख्यात है। उनमे गुणस्थानोंकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणसे असंख्यात, कालप्रमाणसे असंख्यातासख्यात कल्पकाल (अवसर्पिणियों-उत्सर्पिणियों) के समय प्रमाण, तथा क्षेत्रप्रमाणसे जगत्श्रेणीके असख्यातवें भाग अर्थात् असंख्यात करोड़ योजन क्षेत्रप्रदेश प्रमाण हैं। द्वितीयादि गुणस्थानवर्ती जीव संख्यात हैं, जो इस प्रकार है–

२ सासादन गुणस्थानवर्ती मनुष्य ५२ करोड़ (व मतान्तरसे ५० करोड)

३ मिश्र „ „ १०४ करोड़ (पूर्वोक्तसे दुगुने)

४ असंयतसम्यग्दृष्टि „ „ ७०० करोड

५ संयतासंयत „ „ १३ करोड़

छठवेंसे चौदहवे गुणस्थानतकके मनुष्योकी सख्या वही है जो ऊपर गुणस्थान प्रमाण-प्ररूपणमे दिखा आये है, क्योकी, ये गुणस्थान केवल मनुष्योके ही होते है, देवादिकोके नही। अतः जिनका प्रमाण संख्यात है, ऐसे द्वितीय गुणस्थानसे चौदहवें गुणस्थान तकके कुल मनुष्योंका प्रमाण ५२ + १०४ + ७०० + १३ + तीन कम ९ करोड़ अर्थात् कुल तीन कम आठसौ अठहत्तर करोड़ होता है। आजकी संसारभरकी मनुष्यगणनासे यही प्रमाण चौगुनेसे भी अधिक हो जाता है। मिथ्यादृष्टियोंको मिलाकर तो उसकी अधिकता बहुत ही बढ जाती है। जैन सिद्धान्तानुसार यह गणना ढ़ाई द्वीपवर्ती विदेह आदि समस्त क्षेत्रोंकी है जिसमे पर्याप्तकोंके अतिरिक्त निवृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य भी सम्मिलित है।

नाना क्षेत्रोंमे मनुष्य गणनाका अल्पबहुत्व इस प्रकार बतलाया गया है– अन्तर्द्वीपोके मनुष्य सबसे थोडे हैं। उनसे संख्यातगुणे उत्तरकुरु और देवकुरुके मनुष्य हैं। इसी प्रकार हरि और रम्यक, हैमवत और हैरण्यवत, भरत और ऐरावत, तथा विदेह इन क्षेत्रोंका मनुष्यप्रमाण पूर्व पूर्वसे क्रमशः संख्यातगुणा है। (देखो पृ. ९९)

एक बात और उल्लेखनीय है कि वर्तमान हुंडावसर्पिणीमें पद्मप्रभ तीर्थंकरका ही शिष्य-परिवार सबसे अधिक हुआ है, जिसकी सख्या तीन लाख तीस हजार ३,३०,००० थी।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों और मार्गणा-स्थानोमे जीवद्रव्यके प्रमाणका ज्ञान भगवान् भूतबलि आचार्यने १९२ सूत्रोंमे कराया है, जिनका विषयक्रम इस प्रकार है–

प्रथम सूत्रमे द्रव्यप्रमाणानुगमके ओघ और आदेश द्वारा निर्देश करनेकी सूचना देकर दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवे सूत्रोमे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके जीवोंका प्रमाण क्रमश. द्रव्य, काल, क्षेत्र और भावकी अपेक्षा बतलाया है। छठवे सूत्रमे द्वीतीयसे पांचवे गुणस्थान तकके जीवोंका तथा आगेके सातवें और आठवें सूत्रमे क्रमशः छठे और सातवें गुणस्थानोंका द्रव्य-प्रमाण बतलाया है। उसी प्रकार ९ वें और १० वे सूत्रमें उपशामक तथा ११ वे व १२ वे मे क्षपको और अयोगकेवली जीवोका तथा १३ वें व १४ वे सूत्रमे सयोगिकेवलियोका प्रवेश और

संचय-कालकी अपेक्षासे प्रमाण कहा गया है। सूत्र न. १५ से मार्गणास्थानोंमें प्रमाणका निर्देश प्रारंभ होता है, जिसके प्ररूपणकी सूत्र-संख्या निम्न प्रकार है–

	सूत्रसे	सूत्रतक	कुल सूत्र		सूत्रसे	सूत्रतक	कुल सूत्र
नरकगति	१५	– २३	= ९	ज्ञान मार्गणा	१४१	– १४७	= ७
तिर्यंचगति	२४	– ३९	= १६	संयम „	१४८	– १५४	= ७
मनुष्यगति	४०	– ५२	= १३	दर्शन „	१५५	– १६१	= ७
देवगति	५३	– ७३	= २१	लेश्या „	१६२	– १७१	= १०
इंद्रिय मार्गणा	७४	– ८६	= १३	भव्य „	१७२	– १७३	= २
काय „	८७	– १०२	= १६	सम्यक्त्व „	१७४	– १८४	= ११
योग „	१०३	– १२३	= २१	संज्ञी „	१८५	– १८९	= ५
वेद „	१२४	– १३४	= ११	आहार „	१९०	– १९२	= ३
कषाय „	१३५	– १४०	= ६				

५ मतान्तर और उनका खंडन

धवलाकारने अपने समयकी उपलब्ध सैद्धान्तिक सम्पत्तिका जितना भरपूर उपयोग किया है वह ग्रन्थके अवलोकनसे ही पूर्णत. ज्ञात हो सकता है। सूत्रों, व्याख्यानों और उपदेशोका जो साहित्य उनके सन्मुख उपस्थित था, उसका सिंहावलोकन प्रथम भागकी भूमिकामें कराया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रथभागमें भी जहां प्रकृत विषयके विशेष प्रतिपादनके लिये धवलाकारको सूत्र, सूत्रयुक्ति व व्याख्यानका आधार नही मिला, वहां उन्होंने 'आचार्य परपरागत जिनोपदेश', 'परम गुरूपदेश', 'गुरूपदेश' व 'आचार्य-वचन' के आश्रयमे प्रमाणप्ररूपण किया है[1]। किन्तु विशेष ध्यान देने योग्य कुछ ऐसे स्थल है, जहां आचार्यने भिन्न भिन्न मतोंका स्पष्ट उल्लेख करके एकका खंडन और दूसरेका मंडन किया है। यहां हम इसी प्रकारके मत-मतान्तरोंका कुछ परिचय कराते है–

१) सूत्रकारने प्रमाणप्ररूपणामें प्रथम द्रव्यप्रमाण, फिर कालप्रमाण और तत्पश्चात् क्षेत्रप्रमाणका निर्देश किया है। सामान्य क्रमानुसार क्षेत्र पहले और काल पश्चात् उल्लिखित किया जाता है, फिर यहां कालका क्षेत्रसे पूर्व निर्देश क्यों किया गया? इसका समाधान धवलाकार करते हैं कि कालकी अपेक्षा क्षेत्रप्रमाण सूक्ष्म होता है, अतएव 'जो स्थूल और अल्प वर्णनीय हो, उसका पहले व्याख्यान करना चाहिये।' इस नियमके अनुसार कालप्रमाण पूर्व और क्षेत्र प्रमाण उसके अनन्तर कहा गया है। इस स्थलपर उन्होंने सूक्ष्मत्वके संबधमे कुछ

---

१ परमगुरूवदेसादो जाणिज्जदे।...इदमेत्तिय होदि त्ति कध णव्वदे? आइरियपरंपरागदजिणोवदेसादो।... अप्पमत्तसजदाणं पमाणं गुरूवदेसादो वुच्चदे। (पृ ८९) और भी देखिये पृ. १११, ३५१, ४०६, ४७१.

आचार्योंकी एक भिन्न मान्यताका उल्लेख किया है कि जो बहुप्रदेशोंसे उपचित हो वही सूक्ष्म होता है और इस मतकी पुष्टिमे एक गाथा भी उद्धृत की है जिसका अर्थ है कि काल सूक्ष्म है, किन्तु क्षेत्र उससे भी सूक्ष्मतर है, क्योकि, अंगुलके असंख्यातवें भागमे असंख्यात कल्प होते हैं। धवलाकारने इस मतका निरसन इस प्रकार किया है कि यदि सूक्ष्मत्वकी यही परिभाषा मान ली जाय तब तो द्रव्यप्रमाणका भी क्षेत्रप्रमाणके पश्चात् प्ररूपण करना चाहिये, क्योंकि, एक गाथानुसार, एक द्रव्यागुलमे अनन्त क्षेत्रांगुल होनेसे क्षेत्र सूक्ष्म और द्रव्य उससे सूक्ष्मतर होता है। (पृष्ठ २७–२८)

२) तिर्यक् लोकके विस्तार और उसी संबंधसे रज्जूके प्रमाणके संबंधमे भी दो मतोंका उल्लेख और विवेचन किया गया है। ये दो भिन्न भिन्न मत त्रिलोकप्रज्ञप्ति और परिकर्मके भिन्न भिन्न सूत्रोंके आधारसे उत्पन्न हुए ज्ञात होते है। रज्जूका प्रमाण लानेकी प्रक्रियामें जम्बूद्वीपके अर्धच्छेदोंको रूपाधिक करनेका विधान परिकर्मसूत्रमे किया गया है जिसका 'एकरूप' अर्थ करनेसे कुछ व्याख्यानकारोने यह अर्थ निकाला है कि तिर्यक्लोकका विस्तार स्वयंभूरमण समुद्र की वाहिरी वेदिकापर समाप्त हो जाता है। किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारसे धवलाकारका यह मत है कि स्वयंभूरमण समुद्रसे बाहर असंख्यात द्वीपसागरोके विस्तार परिमाण योजन जाकर तिर्यक्लोक समाप्त होता है, अतः जम्बूद्वीपके अर्धच्छेदोंमे एक नहीं, किन्तु संख्यातरूप अधिक वढाना चाहिये। इस मतका परिकर्मसूत्रसे विरोध भी उन्होंने इसप्रकार दूर कर दिया है कि उस सूत्रमे 'रूपाधिक' का अर्थ 'एकरूप अधिक' नही, किन्तु 'अनेक रूप अधिक' करना चाहिये। एक रूपवाले व्याख्यानको उन्होंने सच्चा व्याख्यान नही, किन्तु व्याख्यानाभास कहा है। अपने मतकी पुष्टिमें धवलाकारने यहां जो अनेक युक्तियां और सूत्रप्रमाण दिये है उनसे उनकी सग्राहक और समालोचनात्मक योग्यताका अच्छा परिचय मिलता है। इस विवेचनके अन्तमे उन्होंने कहा है–

'एसो अत्थो जइवि पुव्वाइरियसंपदायविरुद्धो, तो वि तंतजुत्तिबलेण अम्हेहि परूविदो। तदो इदमित्थं वेत्ति णेहासग्गहो कायव्वो, अइंदियत्थविसए छदुमत्थवियप्पिदजुत्तीणं णिण्णयहेउत्ताणुववत्तीदो। तम्हा उवएसं लद्धूण विसेसणिण्णयो एत्थ कायव्वो'।

अर्थात् हमारा किया हुआ अर्थ यद्यपि पूर्वाचार्य-सप्रदायके विरुद्ध पडता है, तो भी तत्रयुक्तिके बलसे हमने उसका प्ररूपण किया। अतः 'यह इसी प्रकार है' ऐसा दुराग्रह नही करना चाहिये, क्योंकि, अतीन्द्रिय पदार्थोके विषयमे अल्पज्ञों द्वारा विकल्पित युक्तियोंके एक निश्चयरूप निर्णयके लिये हेतु नही पाया जाता। अतः उपदेशको प्राप्त कर विशेष निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यहा ग्रथकारकी कैसी निष्पक्ष, निर्मल, शोधक बुद्धि और जिज्ञासा प्रकट हुई है। (पृ. ३४ से ३८)

३) एक मुहूर्तमे कितने उच्छ्वास होते हैं, यह भी एक मतभेदका विषय हुआ है। एक मत है कि एक मुहूर्तमे केवल ७२० प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास होते हैं। किन्तु धवलाकार कहते हैं कि यह मत न तो एक स्वस्थ पुरुषके श्वासोच्छ्वासोकी गणना करनेसे सिद्ध होता है

और न केवली द्वारा भाषित प्रमाणभूत अन्य सूत्रसे इसका सामञ्जस्य बैठता है। उन्होंने एक प्राचीन गाथा उद्धृत करके बतलाया है कि एक मुहूर्तके उच्छ्वासोंका ठीक प्रमाण ३७७३ है और इसी प्रमाण द्वारा सूत्रोक्त एक दिवसमें १,१३,१९० प्राणोंका प्रमाण सिद्ध होता है। पूर्वोक्त मतसे तो एक दिनमें केवल २१,६०० प्राण होंगे, जो किसी प्रकार भी सिद्ध नही।

(पृ. ६६–६७)

४) उपशामक जीवोंकी संख्याके विषयमें उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति, ऐसी दो भिन्न मान्यताएं दी है। प्रथम मतानुसार उक्त जीवोंकी संख्या ३०४, तथा द्वितीय मतानुसार उनसे ५ कम अर्थात् २९९ है। इस मतभेदकी प्ररूपक दो गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। उनमेंसे एकमें एक तीसरा मत और स्फुटित होता है, जिसके अनुसार उपशामकोंकी सख्या पूरे ३०० है। इन मतभेदोंपर धवलाकारने कोई ऊहापोह नही किया, उन्होंने केवल मात्र उनका उल्लेख ही किया है।

५) इन्ही उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तियोंका मतभेद प्रमत्तसंयत राशिके प्रमाण-प्ररूपणमे भी पाया जाता है। उत्तरप्रतिपत्तिके अनुसार प्रमत्तोंका प्रमाण ४,६६,६६,६६४ है, किन्तु दक्षिणप्रतिपत्त्यनुसार यह प्रमाण ५,९३,९८,२०६ आता है। इन मतभेदोंके बीच निर्णय करनेका भी धवलाकारने यहां कोई प्रयत्न नही किया। किन्तु दक्षिणप्रतिपत्तिके प्रमाणमे जो कुछ आचार्योंने यह शंका उठाई है कि सब तीर्थंकरोंमें सबसे बडा शिष्यपरिवार पद्मप्रभस्वामीका ही था, किन्तु वह परिवार भी मात्र ३,३०,००० ही था। तब फिर जो सर्व सयतोंकी पूरी सख्या ८९९९९९९७ एक प्राचीन गाथामे बतलाई है, वह कैसे सिद्ध हो सकती है? इसका परिहार धवलाकारने यह किया है कि इस हुडावसर्पिणी कालवर्ती तीर्थंकरोंके साथ भले ही संयतोंका उक्त प्रमाण पूर्ण न होता हो, किन्तु अन्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियोमे तो तीर्थंकरोंका शिष्य-परिवार बड़ा पाया जाता है। दूसरे, भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी अपेक्षा मनुष्योंका प्रमाण विदेह क्षेत्रमे संख्यातगुणा पाया जाता है, अतः वहां उक्त प्रमाण पूरा हो सकता है। इसलिये उक्त प्रमाणमें कोई दूषण नही है। (पृ. ९८–९९)

६) पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनीमती मिथ्यादृष्टियोका अवहारकाल देवोंके अवहारकालके आश्रयसे बतलाया गया है। किन्तु धवलाकारका मत है कि कितने ही आचार्योंका उक्त व्याख्यान घटित नही होता है, क्योंकि, वानव्यन्तर देवोंका अवहारकाल तीनसौ योजनोंके अंगुलोका वर्गमात्र बतलाया गया है। यहां कोई यह शका कर सकता है कि पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमती मिथ्यादृष्टिसबधी अवहारकाल ही गलत है और वानव्यन्तर देवोंका अवहारकाल ठोक है, यह कैसे जाना जाता है? यहां धवलाकार कहते हैं कि हमारा कोई एकान्त आग्रह नहीं है, किन्तु जब दो बातोंमें विरोध है तो उनमेंसे कोई एक तो असत्य होना ही चाहिये। किन्तु इतना समाधानपूर्वक कह चुकने पर धवलाकारको अपनी निर्णायक बुद्धीकी प्रेरणा हुई और वे कह उठे– 'अहवा दोण्णी वि वक्खाणाणि असच्चाणि, एसा अम्हाणं पइज्जा।' अर्थात् उक्त दोनों ही व्याख्यान असत्य है, यह हम प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते है। इसके आगे धवलाकारने

खुद्दाबंध सूत्रके आधारसे उक्त दोनों अवहारकालोंको असिद्ध करके उनमें यथोचित प्रमाण-प्रवेश करनेका उपदेश दिया है। (पृ. २३१–२३२)

७) सासादनसम्यग्दृष्टियोंका प्रमाण एक प्राचीन गाथामें ५२ करोड़ और दूसरी गाथामें ५० करोड़ पाया जाता है। धवलाकारने प्रथम मत ही ग्रहण करनेका आदेश किया है, क्योंकि, वह प्रमाण आचार्य-परंपरागत है। (पृ २५२)

८) सूत्र ४५ में मनुष्य पर्याप्त मिथ्यादृष्टि राशिका प्रमाण बतलाया है 'कोड़ाकोड़ाकोडीसे ऊपर और कोड़ाकोड़ाकोडाकोडीसे नीचे' अर्थात् छठवें वर्गके ऊपर और सातवें वर्गके नीचे। किन्तु एक दूसरा मत है कि मनुष्य-पर्याप्तराशि वादाल वर्गके (४२९४९६७२९६) अर्थात् द्विरूप वर्गधाराके पांचवें वर्गस्थानके घनप्रमाण है। धवलाकारने इस दूसरे मतका परिहार किया है और उसके दो कारण दिये हैं। एक तो वादालका घन २९ अंक प्रमाण होकर भी कौड़ाकोड़ाकोड़ाकोडीके ऊपर निकल जाता है, जिससे सूत्रोक्त अंक-सीमाओंका सर्वथा उल्लघन हो जाता है। दूसरे यदि ढाई द्वीपके उस भागका क्षेत्रफल निकाला जाय जहां मनुष्य विशेषतासे पाये जाते हैं, तो उसका क्षेत्रफल केवल २५ अंक प्रमाण प्रतरांगुलोंमें आता है, जिससे उस २९ अंक प्रमाण मनुष्यराशिका वहां निवास असंभव सिद्ध होता है। यही नहीं, सर्वार्थसिद्धीके देवोंका प्रमाण मनुष्य पर्याप्त राशिसे संख्यातगुणा कहा गया है जबकी सर्वार्थसिद्धि विमानका प्रमाण केवल जम्बूद्वीपके बराबर है। अतएव उक्त प्रमाणसे इन देवोंकी अवगाहना भी उनकी निश्चित निवास-भूमिमें असंभव हो जायगी। अतः उक्त राशिका प्रमाण सूत्रोक्त अर्थात् कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोडीसे नीचे ही मानना उचित है। (पृ. २५३–२५८)

९) आहारमिश्रकाययोगियोंका प्रमाण आचार्य-परम्परागत उपदेशसे २७ माना गया है, किन्तु सूत्र नं. १२० में उनका प्रमाण 'संख्यात' शब्दके द्वारा सूचित किया गया है। इसपरसे धवलाकारका मत है कि उक्त राशिका प्रमाण निश्चित २७ नहीं मानना चाहिये। किन्तु मध्यम संख्यातकी अन्य कोई संख्या होना चाहिये, जिसे जिनेन्द्र भगवान् ही जानते हैं। यद्यपि २७ भी मध्यम संख्यातका ही एक भेद है और इसलिये उसके भी उक्त प्रमाणप्ररूपणमें ग्रहण करनेकी संभावना हो सकती है, किन्तु उसके विरुद्ध धवलाकारने दो हेतु दिये हैं। एक तो सूत्रमें केवल 'संख्यात' शब्द द्वारा ही वह प्रमाण प्रकट किया गया है, किसी निश्चित संख्या द्वारा नहीं। दूसरे मिश्रकाययोगियोंसे आहारकाययोगी संख्यातगुणे कहे गये हैं। दोनों विकल्पोंमें यहां सामजस्य बन नहीं सकता, क्योंकि, सर्व अपर्याप्तकालसे जघन्य पर्याप्तकाल भी संख्यातगुणा माना गया है। (पृ. ४०२)

६ गणितकी विशेषता

धवलाकारने अपने इस ग्रंथभागके आदिमें ही मंगलाचरण गाथामें कहा है कि– **'णमिऊण जिणं भणिमो दव्वणिओगं गणियसारं'** अर्थात् जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके हम द्रव्यप्रमाणानुयोगका कथन करते हैं, जिसका सार भाग गणितशास्त्रसे संम्बंध रखता है, या जो

गणित-शास्त्र-प्रधान है। यह प्रतिज्ञा इस ग्रंथमें पूर्णरूपसे निवाही गई है। धवलाकारने इस ग्रंथभागमें गणितज्ञानका खूब उपयोग किया है, जिससे तत्कालीन गणितशास्त्रकी अवस्थाका हमे बहुत अच्छा परिचय मिल जाता है। धवलाकारसे शताब्दियों पूर्व रचे गये भूतबलि आचार्यके सूत्रोंमे जो गणितशास्त्रसबंधी उल्लेख है, वे भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनमें एकसे लगाकर शत, सहस्र, शतसहस्र (लक्ष), कोटि, कोटाकोटाकोटी व कोटाकोटाकोटाकोटी तक की गणना व उससे भी ऊपर संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्तका कथन, गणितकी मूल प्रक्रियाओं जैसे सातिरेक, हीन, गुण और अवहार या प्रतिभाग अर्थात् जोड़ बाकी, गुणा, वर्ग और वर्गमूल, तथा प्रथम, द्वितीय आदि सातवें तक वर्ग व वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यास आदिका खूब उपयोग किया गया है। क्षेत्र और कालसंबंधी विशेष गणना–मानों जैसे, अंगुल, योजन, श्रेणी, जगत्प्रतर व लोक तथा आवली, अन्तर्मुहूर्त, अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी, पल्योपम, तथा विष्कंभ विष्कंभसूची (पंक्तिरूप क्षेत्रआयाम), इन सबका भी सूत्रोंमे खूब उपयोग पाया जाता है, जिनके स्वरूपपर ध्यान देनेसे आजसे लगभग दो हजार वर्षपूर्वके एतद्देशीय गणितज्ञानका अच्छा दिग्दर्शन मिल जाता है।

धवलाकारकी रचनामे असंख्यात, असंख्यातासख्यात तथा अनन्त और अनन्तानन्तके आन्तरिक प्रभेदों और तारतम्योंका और भी सूक्ष्म निदर्शन किया गया है, जिसका स्वरूप हम ऊपर दिखा आये है। इस विषयमे धवलाकार द्वारा अर्धच्छेद और वर्गशलाकाओंके परस्पर संबंधका तथा वर्गित–संवर्गित राशिका जो परिचय दिया गया है वह गणितकी विशेष उपयोगी वस्तु है (देखो पृ. १८–२६)। सर्व जीवराशिका उसके अन्तर्गत राशियोंमे भाग–प्रविभाग दिखानेके लिये धवलाकारने ध्रुवराशि (भागहार विशेष) स्थापित करनेकी क्रिया और उससे भाग देनेकी प्रक्रियाएं जैसे खडित, भाजित, विरलित और अपहृत विस्तारसे दी हैं, जो गणितज्ञोंको रुचिकर सिद्ध होंगी। (देखो पृ. ४१)। ध्रुवराशिसे भाग देनेपर विवक्षित मिथ्यादृष्टिराशि क्यों आती है, इसका कारण समझानेमे भाज्य और भाजकके हानि–वृद्धि क्रमका जो तारतम्य और सबंध बतलाया गया है और क्षेत्र-गणितसे समझाया गया है, वह गणित-शास्त्रका एक बहुमूल्य भाग है (देखो पृ ४२ आदि)। अवतरण गाथा २४ से ३२ तककी नौ गाथाओंमे इसी संबंधके बडे सुदर नियम गुरुरूपमें उद्धृत किये गये है और उनका उपयोग विवक्षित राशिया लानेके लिये यथासंभव और यथास्थान भागके अनेक विकल्पोंमे करके बतलाया गया है। अधस्तन विकल्पमें निश्चित भाज्य और भाजनसे नीचेकी संख्या लेकर वही भजनफल उत्पन्न करके बतलाया गया है और वह भी द्विरूप अर्थात् वर्गधारामें, अष्टरूप अर्थात् घनधारामें और घनाघनधारामे। अर्थात् निश्चित संख्याका प्रथम, द्वितीय व तृतीय वर्गमूल लेकर भाजकको कम कर वही भजनफल उत्पन्न कर दिखाया है। उपरिम विकल्पमे निश्चित भाज्य व भाजकसे ऊपरकी अर्थात् वर्ग, घन व घनाघनरूप राशियां ग्रहण करके वही फजनफल उत्पन्न किया गया है। इस प्रक्रियोंमें धवलाकारने तीन और विकल्प कर दिखाये हैं, गृहीत, गृहीतगृहीत और गृहीतगुणकार। गृहीत तो सीधा है, अर्थात् उसमे ऊपरके भाज्य और भाजकके द्वारा निश्चित भजनफल उत्पन्न किया गया है। किन्तु गृहीतगृहीतमें निश्चित भजनफल भी एक बडी राशिका

भाजक बन जाता है और उसके लब्धका उसी भाजकमे भाग देनेसे निश्चित भजनफल प्राप्त होता है। गृहीतगुणकारमें निश्चित भजनफलका विवक्षित राशिमे भाग देनेसे जो लब्ध आया उसका उसी भाजक राशिसे गुणा करके उत्पन्न हुए भजनफलका विवक्षित राशिके वर्गमें भाग देकर निश्चित भजनफल प्राप्त किया गया है। ये सब विकल्प वर्गात्मक राशियोंमे ही घटित होते हैं। इनका पूर्ण स्वरूप पृष्ठ ५२ से ८७ तक देखिये। प्रमाणराशि, फलराशि और इच्छाराशि, इनकी त्रैराशिक क्रियाका उपयोग जगह जगह दृष्टिगोचर होता है।

(पृ. ९५-१००)

मनुष्यगति-प्रमाणके प्ररूपणमे राशि दो प्रकारकी बतलाई है **ओज** और **युग्म**। इनमेंसे प्रत्येकके पुनः दो विभाग किये गये है। किसी राशिमे चारका भाग देनेसे यदि तीन शेष रहे तो वह **तेजोज** राशि, यदि एक शेष रहे तो **कलिओज** राशि, यदि चार शेष रहे (अर्थात् कुछ शेष न रहे) तो **कृतयुग्म** राशि तथा यदि दो शेष रहे तो **बादरयुग्म** राशि कहलाती है। इनमेंसे मनुष्यराशि तेजोज कही गई है। (पृ. २४९)

७ मूडबिद्रीकी ताड़पत्रीय प्रतियोंके मिलानका निष्कर्ष

यह तो पाठकोंको विदित ही है कि इन सिद्धान्तग्रंथोंकी प्राचीन प्रतियां केवल एकमात्र मूडबिद्रीक्षेत्रके सिद्धान्तमंदिरमें है। पूर्व प्रकाशित दो भागोंके लिये हमे इन प्राचीन प्रतियोके पाठ-मिलानका सुअवसर प्राप्त नही हो सका था। किन्तु हर्षकी बात है कि अब हमें वहा के भट्टारकस्वामी और पंचोंका सहयोग प्राप्त हो गया है, जिसके फलस्वरूप ताड़पत्रीय प्रतियोके मिलानकी व्यवस्था हो गई है। पूर्व प्रकाशित दोनों भागों और इस तृतीय भागका मूल पाठ वहांकी ताड़पत्रीय प्रतियोसे मिलाया जा चुका है और उससे जो पाठभेद हमे प्राप्त हुए हैं उनपर खूब विचार कर हमने उन्हे चार श्रेणीयोंमे विभाजित किया गया है–

(अ) वे पाठभेद जो अर्थ व पाठकी दृष्टिसे अधिक शुद्ध प्रतीत हुए। (देखो परिशिष्ट पृ. २० आदि)

(ब) वे पाठभेद जो शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियोसे दोनो ही शुद्ध हैं, अतएव जो संभवतः प्राचीन प्रतियोंके पाठभेदोंसे ही आये है। (देखो परिशिष्ट पृ. २९ आदि)

(क) वे पाठभेद जो प्राकृतमे उच्चारणभेदसे उत्पन्न होते है और विकल्परूपसे पाये जाते हैं। (देखो परिशिष्ट पृ. ३२ आदि)

(ड) वे पाठभेद जो अर्थ या शब्दकी दृष्टिसे अशुद्ध है और इस कारण ग्रहण नहीं किये जा सकते। (देखो परिशिष्ट पृ ३८ आदि)

इस श्रेणी-विभागके अनुसार मूडबिद्रीकी प्रतियोंका पाठ-मिलान इस भागके साथ प्रकाशित हो रहा है। सक्षेपमे यह पाठभेद-परिस्थिति इस प्रकार आती है–

(अ) श्रेणीके पाठभेद भाग १ में ६२, भाग २ मे २५ और भाग ३ में ६२, इस प्रकार कुल १४९ पाये गये है। भेद प्रायः बहुत थोड़ा है और अर्थकी दृष्टिसे तो अत्यन्त अल्प। यह इस बातसे और भी स्पष्ट हो जाती है कि इन पाठभेदोंके कारण अनुवादमें किंचित् भी परिवर्तन करनेकी आवश्यकता केवल भाग १ में १९, भाग २ मे १० और भाग ३ मे ३२, इस प्रकार कुल ६१ स्थलोंपर पडी है। शेष ८८ स्थलोंका पाठपरिवर्तन वांछनीय होनेपर भी उससे हमारे किये हुए भाषानुवादमें कोई परिवर्तन आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ।

(ब) श्रेणीके पाठभेद भाग १ मे ३०, भाग २ में कोई नही और भाग ३ में ३२, इस प्रकार कुल ६२ पाये गये और इसमें भी किंचित् अनुवाद-परिवर्तन केवल प्रथम भागमें १७ स्थलोंपर आवश्यक समझा गया है।

(क) श्रेणीके पाठभेद भाग १ मे ६०, भाग २ में ३० और भाग ३ मे ६७, इस प्रकार कुल १५७ पाये गये है। इनसे अर्थमें कोई भेदकी तो संभावना ही नही है। इनमेंके अधिकांश पाठ तो ऐसे हैं जो उपलब्ध प्रतियोंमे भी पाये जाते थे, किन्तु हमने प्राकृत व्याकरणके नियमोंको ध्यानमें रखकर परिवर्तित किये हैं। (देखिये 'पाठ संशोधनके नियम,' षट्खं. भाग १, प्रस्तावना पृ. १०–१३)

(ड) श्रेणीके पाठभेद भाग १ में ३८, भाग २ मे १५, भाग ३ मे ६७, इस प्रकार कुल १२० पाये गये। इनमेंके अधिकांश तो स्पष्टतः अशुद्ध हैं और जहां उनके शुद्ध होनेकी संभावना हो सकती है, वहां टिप्पणी देकर स्पष्ट कर दिया गया है कि वे पाठ प्रकृतमें क्यों नही ग्राह्य हो सकते।

इस प्रकार कुल पाठभेद १४९ + ६२ + १५७ + १२० = ४८८ आये हैं। संक्षेपमें यह परिस्थिति इस प्रकार है–

	मूल पाठमें भेद					अनुवाद परिवर्तन		
भाग	अ	ब	क	ड	कुल	अ	ब	कुल
१	६२	३०	६०	३८	१९०	१९	१७	३६
२	२५	×	३०	१५	७०	१०	×	१०
३	६२	३२	६७	६७	२२८	३२	×	३२
कुल	१४९	६२	१५७	१२०	४८८	६१	१७	७८

मूलपाठके संशोधनमें अर्थ और शैलीकी दृष्टिसे कुछ स्थानोंपर हमें पाठ स्खलित प्रतीत हुए थे। प्रतियोंका आधार न होनेसे हमने वे पाठ कोष्ठकोंके भीतर रखे हैं, जिससे पाठक सुलभतासे हमारे जोडे हुए पाठको अलग पहिचान सके। गत द्वितीय भागमे भी इसी प्रकार पाठ कहीं कहीं जोड़ना पडे थे। किन्तु वह आलाप प्रकरण होनेसे स्खलन शीघ्र दृष्टिमे आ जाते हैं। पर इस भागका विषय बहुत कुछ सूक्ष्म है, अतएव यहांके स्खलन बडे ही

गंभीर विचारके पश्चात् ध्यानमे आसके और उनका पाठ धवलाकारकी शैलीमे ही बडे विचारके साथ रखना पड़ा। ऐसे पाठ प्रस्तुत भागमे १९ है। हमें यह प्रकट करते हुए हर्ष होता है कि मूडबिद्रीके मिलानसे इन पाठोंमे के १२ पाठ जैसे हमने रखे हैं वैसे ही शब्दशः ताडपत्रीय प्रतियोंमे पाये गये[1]। एक पाठमे हमारे रखे हुए 'खवगा' के स्थानपर 'बंधगा' पाठ आया है, किन्तु विचार करनेपर यह अशुद्ध प्रतीत होता है, वहां 'खवगा' ही चाहिये[2]। शेष ६ पाठ मूडबिद्रीकी प्रतिमें नही पाये गये। किन्तु वे पाठ अशुद्ध फिर भी नही हैं। यथार्थतः वहां अर्थकी दृष्टिसे वही अभिप्राय पूर्वापर प्रसंगसे लेना पड़ता है। धवलाकारकी अन्यत्र शैलीपरसे ही वे पाठ निहित किये गये हैं[3]।

---

१ देखो पृष्ठ २६४, ३५४, ३८३, ३८४, ३९२, ४१२, ४२४, ४३५, ४४४, ४५१.

२ देखो पृष्ठ ४८६.

३ देखो पृष्ठ ६१, २४८, ३४८, ३५३, ४४०.

७ द्रव्यप्रमाणानुगम-विषयसूची

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	१	
	विषयकी उत्थानिका	१-१०
१	द्रव्यप्रमाणानुगमकी अपेक्षा निर्देश-भेद-कथन	१
२	द्रव्यशब्दकी निरुक्ति और भेद	२
३	जीवद्रव्यका साधारण और असाधारण लक्षण	२
४	अजीवद्रव्यके रूपी और अरूपी भेद वा उनके लक्षण	२-३
५	द्रव्यप्रमाणानुगममें प्रकृत द्रव्यका निर्देश	४
६	प्रमाण शब्दकी निरुक्ति तथा द्रव्य-प्रमाण शब्दका समास-विच्छेद	४-५
७	द्रव्यका लक्षण	५-६
८	छहों समासोंके लक्षण व उदाहरण	६-७
९	संख्याकी सर्वथा एकरूपताका परिहार	७
१०	द्रव्यप्रमाणानुगमका अर्थ	८
११	निर्देशका स्वरूप और उसके भेदोंका स्पष्टीकरण	८-१०
	२	
	ओघसे द्रव्यप्रमाण निर्देश	१०-१२०
१२	मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण-प्ररूपण	१०
१३	अनन्तके ११ भेद, नामानन्त और स्थापनानन्तका स्वरूप	११
१४	द्रव्यानन्तके भेद	१२
१५	आगम और आप्तका लक्षण	१२
१६	आगम द्रव्यानन्तका स्वरूप	१२
१७	नोआगम द्रव्यानन्तके भेद, उनका स्वरूप और तद्विषयक शंका-समाधान	१३-१५
१८	शाश्वतानन्त, गणनानन्त अप्रदेशिकानन्त, एकानन्त, उभयानन्त, विस्तारानन्त, सर्वानन्त और भावानन्तके भेद और स्वरूप	१५-१६
१९	प्रकृतमें गणनानन्तसे प्रयोजनकी सिद्धि और शेष दश अनन्तोंके कथन करनेका हेतु	१६-१७
२०	गणनानन्तके तीन भेद-परीत, युक्त और अनन्तानन्त	१८
२१	मिथ्यादृष्टियोंके प्रमाणमें विवक्षित अनन्तानन्तका प्रतिपादन	१८
२२	अनन्तानन्तके जघन्यादि तीन भेद, तथा मिथ्यादृष्टियोंके प्रमाणमें मध्यम अनन्तानन्तके ग्रहणका परिकर्मके प्रमाणपूर्वक प्रतिपादन	१९
२३	अथवा, मिथ्यादृष्टिराशि तीन वार वर्गित-संवर्गितराशिसे अनन्तगुणी तथा छह द्रव्यप्रक्षिप्तराशिसे अनन्तगुणी हीन है, इसका सोपपत्तिक प्रतिपादन और इन राशियोंके उत्पत्तिक्रमका प्ररूपण	१९-२६
२४	कालकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवराशिका निरूपण तथा क्षेत्रप्रमाणके पूर्व कालप्रमाणके प्रतिपादनकी सार्थकता	२७
२५	कालकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवराशिकी गणना करनेका प्रकार तथा इस गणनामें केवल अतीतकालके ग्रहणका प्रतिपादन	२८-२९
२६	अतीतकालसे मिथ्यादृष्टिराशि बडी है, इसका सोलह-प्रतिक अल्पबहुत्वसे समर्थन	३०-३१
२७	क्षेत्रकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिराशिका प्रमाण-प्ररूपण, तथा क्षेत्रप्रमाणके पूर्व भावप्रमाणके प्रतिपादन न करनेका कारण	३२

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
२८	क्षेत्रकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिराशिके मापनेका प्रकार	३२
२९	लोक, जगत्श्रेणी और राजुका स्वरूप	३३
३०	मध्यलोक-विस्तारके संबंधमें मत-भेद तथा धवलाकारका तत्संबंधी सयुक्तिक निर्णय	३४-३८
३१	क्षेत्रप्रमाणके प्ररूपणकी सार्थकता	३८
३२	भावनाप्रमाणका स्वरूप व उसके भेद	३८-३९
३३	सूत्रमें भावप्रमाणके नहीं कहनेमें हेतु	३९
३४	भावप्रमाणकी अपेक्षा खंडित, भाजित, विरलित और अपहृत नामक गणितकी प्रक्रियाओंकेद्वारा मिथ्यादृष्टिराशिके लानेकी विधि	३९
३५	वर्गस्थानमें खंडित आदिके द्वारा मिथ्यादृष्टिराशिके प्रमाण-निरूपणकी प्रतिज्ञा	४०
३६	मिथ्यादृष्टिराशि लानेके लिए ध्रुवराशिकी स्थापना व उसके द्वारा खंडित, भाजित, विरलित और अपहृत विधिओंसे मिथ्यादृष्टिराशिका प्रमाण-प्ररूपण	४१
३७	मिथ्यादृष्टिराशिका प्रमाण तथा तत्संबंधी गणितका शास्त्रीय कारण	४२-४६
३८	गणितसंबंधी नौ करण-गाथाएं	४६-४९
३९	सर्व जीवराशिमेंसे मिथ्यादृष्टि और सिद्ध-तेरस गुणस्थानोंके प्रमाण पृथक् करनेकी निरुक्ति	५१
४०	विकल्पके अधस्तन और उपरिम भेद, तथा वर्गधारामें मिथ्यादृष्टि राशि लानेके लिए अधस्तन विकल्पकी असंभवता	५२
४१	घनधारामें अधस्तन विकल्प	५२
४२	घनाघनधारामें अधस्तन विकल्प	५३
४३	उपरिम विकल्पके तीन भेद-गृहीत, गृहीतगृहीत और गृहीतगुणकार	५४
४४	द्विरूपधारामें गृहीत उपरिम विकल्प द्वारा मिथ्यादृष्टिराशिकी उत्पत्ति	५४
४५	घनधारामें गृहीत उपरिम विकल्प	५७
४६	घनाघनधारामें गृहीत उपरिम विकल्प	५८
४७	गृहीतगृहीत उपरिम विकल्पमें तीनों धाराओंकेद्वारा मिथ्यादृष्टि राशिकी उत्पत्ति	५९
४८	गृहीतगुणकार उपरिम विकल्पमें तीनों धाराओंकेद्वारा मिथ्यादृष्टि-राशिकी उत्पत्ति	६१
४९	सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण	६३
५०	सासादनसम्यग्दृष्टियोंका प्रमाण	६३
५१	क्षेत्र और कालकी अपेक्षा सासादनसम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणकी प्ररूपणा नहीं करनेका कारण	६३
५२	कालप्रमाणसंबंधी आवली,उच्छ्वास, स्तोक, लव, नाली, मुहूर्त, भिन्नमुहूर्त और अन्तर्मुहूर्तका स्वरूप	६५
५३	एक मुहूर्तमें प्राणोंकी संख्यासिद्धि और मतान्तरका खंडन	६६
५४	असंयतसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत अवहारकालोंका कथन	६८
५५	ओघसम्यग्मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतोंका अवहारकाल आवलीके असंख्यातवें भाग न होकर 'असंख्यात आवली प्रमाण है' इस बातका समर्थन व विरोध-परिहार	६८
५६	सासादनसम्यग्दृष्टि आदि राशियोंके अनवस्थित रहने पर भी उनके निश्चित प्रमाण लानेके लिए निश्चित भागहारका समर्थन	७०

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
५७	खंडित, भाजित, विरलित, अपहृत, प्रमाण कारण और निरुक्तिकेद्वारा वर्गधारामें सासादनसम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणका प्ररूपण	७१
५८	अधस्तनविकल्पमें द्विरूपवर्गधारा आदिका आश्रय लेकर सासादन-सम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणका प्ररूपण	७४
५९	उपरिमविकल्पके तीनों भेदोंमें द्विरूपवर्गधारा आदिका आश्रय लेकर सासादनसम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणका प्ररूपण	७७
६०	सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्य-ग्दृष्टि और संयतासंयत की प्ररूपणा खंडित आदि विधिसे सासादनसम्यग्दृष्टिकी प्ररूपणाके समान उनके पृथक् पृथक् अवहार-कालके द्वारा करनेका निर्देश	८७
६१	सासादनसम्यग्दृष्टि आदिके अव-हारकाल, प्रमाण और पल्योपमकी अंकसंदृष्टि	८७
६२	प्रमत्तसंयतोंका प्रमाण	८८
६३	अप्रमत्तसंयतोंका प्रमाण	८९
६४	अप्रमत्तसंयतोंके प्रमाणसे प्रमत्त-संयतोके दूने प्रमाणका कारण	९०
६५	चारों उपशामकोंका प्रवेशकी अपेक्षा प्रमाण	९०
६६	चारों उपशामकोंका कालकी अपेक्षा प्रमाण व उनकी संख्याके जोड़नेका प्रकार	९१
६७	चारों क्षपक और अयोगिकेवलीका प्रवेशकी अपेक्षा प्रमाण	९२
६८	चारों क्षपक और अयोगिकेवलीका कालकी अपेक्षा प्रमाण व उनकी संख्याके जोड़नेका प्रकार	९३
६९	उपशामकों और क्षपकोंकी संख्याके लानेका करणसूत्र	९४
७०	उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिण प्रति-पत्तिके अनुसार उपशामकों और क्षपकोंकी संख्याका मतभेद	९४
७१	एक एक गुणस्थानमें उपशामक और क्षपकोंका संयुक्त प्रमाण	९५
७२	सयोगिकेवलियोंका प्रवेश व कालकी अपेक्षा प्रमाण	९५
७३	सयोगिकेवली जिनोंकी लक्षपृथक्त्व संख्याके निकालनेका विधान	९५
७४	यथाख्यातसंयतोंका, सर्वसंयत-राशिका तथा उपशामक और क्षपकोंका प्रमाण	९७
७५	प्रमत्त और अप्रमत्तसंयतोंकी राशिके निकालनेका एक नया प्रकार	९७
७६	दक्षिणप्रतिपत्तिवाली सर्व संयतोंकी संख्यापर आक्षेप और समाधान	९८
७७	उत्तरप्रतिपत्तिकी अपेक्षा प्रमत्त-संयत आदिका प्रमाण	९९
७८	ओघ भागाभाग प्ररूपण	१०१
७९	अल्पबहुत्वके कथनकी प्रतिज्ञा और स्वतंत्र अल्पबहुत्व अनुयोग द्वारके होते हुए भी यहां उसके कहनेका कारण	११४
८०	अल्पबहुत्वके दो भेद-स्वस्थान और सर्व परस्थान	११४
८१	मिथ्यादृष्टिराशिमें स्वस्थान अल्प-बहुत्वका अभाव	११४
८२	सासादनादि राशिओंमें स्वस्थान अल्पबहुत्व	११४
८३	ओघ सर्वपरस्थान अल्पबहुत्व	१८६
	३	
	आदेशसे द्रव्यप्रमाणनिर्देश	१२१-४८७
	१ गतिमार्गणा	१२१-३०५
	(नरकगति)	
८४	सामान्य नारक मिथ्यादृष्टिओंका प्रमाण	१२१

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
८५	असंख्यातके नामादि ग्यारह भेद और उनका स्वरूप	१२३-१२५
८६	प्रकृतमें गणना संख्यातसे प्रयोजन तथा शेष असंख्यातोंके वर्णनकी सार्थकता	१२५
८७	गणनासंख्यातके जघन्यपरीता-संख्यात आदि नौ भेद, तथा प्रकृतमें मध्यम असंख्यातासंख्यातका ग्रहण	१२६
८८	तीन वार वर्गित संवर्गितराशिसे असंख्यातगुणी तथा छह द्रव्य प्रक्षिप्तराशिसे असंख्यातगुणी हीन राशिसे प्रयोजन और उक्त राशियोंका स्वरूप-निदर्शन	१२८
८९	सामान्य नारक मिथ्यादृष्टियोंका कालकी अपेक्षा प्रमाण व हेतु	१२९
९०	क्षेत्रप्रमाणसे पहले काल प्रमाणके वर्णनकी सार्थकता	१३०
९१	नारक मिथ्यादृष्टियोंकी कालकी अपेक्षा गणना करनेका प्रकार	१३१
९२	नारकसामान्य मिथ्यादृष्टियोंका क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	१३१
९३	नारकसामान्य मिथ्यादृष्टियोंकी विष्कंभसूचीका प्रमाण	१३३
९४	सूत्रपठित 'अंगुल' शब्दसे सूच्यंगुलके ग्रहणका सप्रमाण समर्थन	१३४
९५	वर्गस्थानमें खंडित आदिके द्वारा विष्कंभसूचीका प्ररूपण	१३५
९६	नारकसामान्य मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण लानेके लिए विष्कंभसूचीके बलसे भागहारकी उत्पत्ति	१४१
९७	वर्गस्थानमें प्रमाण आदिके द्वारा अवहारकालका निरूपण	१४२
९८	नारक सामान्य मिथ्यादृष्टिराशिका प्रमाण अवहारकालसे किस प्रकार आता है, यह बताकर प्रमाण, कारण, निरुक्ति और विकल्पके द्वारा उक्त राशिकी प्ररूपणा	१५१
९९	सासादनसे लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानमें सामान्य नारकियोंका प्रमाण	१५६
१००	गुणस्थान-प्रतिपन्न सामान्य नारकियोंको गुणस्थान-प्रतिपन्न ओघप्रमाणके समान मान लेनेपर आनेवाले दोषका परिहार	१५६
१०१	ओघ असंयतसम्यग्दृष्टि-अवहार कालके आश्रयसे गुणस्थान प्रतिपन्न देव, तिर्यंच और नारकियोंके प्रमाण लानेके लिए अवहारकाल उत्पन्न करनेकी विधि और उनका प्रमाण	१५७
१०२	प्रथम पृथिवीके नारकियोंका प्रमाण	१६१
१०३	सामान्य नारकोंके प्रमाण समान प्रथम पृथिवीके नारकोंका प्रमाण माननेपर उत्पन्न होनेवाली आपत्तिका परिहार और विशेषताका प्रतिपादन	१६१
१०४	प्रथम नरकके मिथ्यादृष्टि नारकोंकी विष्कंभसूची और अवहारकाल	१६२
१०५	प्रथम नारकोंका प्रकारान्तरसे अवहारकाल	१६४
१०६	प्रत्येक पृथिवीके प्रति अवहार-काल, प्रक्षेप शलाकाएं और विष्कंभसूचीमें अपनयनरूप-संख्याके प्रमाणका प्रतिपादन	१६६
१०७	सामान्य अवहारकालमात्र छह पृथिवियोंके द्रव्यका आश्रय लेकर प्रत्येक पृथिविमें अवहारकाल प्रक्षेप-शलाकाएं निकालनेका विधान	१७१
१०८	उक्त सातों अवहारकालके मिलानकी विधि और उनसे प्रथम	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	पृथिवीके अवहारकालके उत्पन्न करनेका क्रम	१७५
१०९	प्रकारान्तरसे प्रथम पृथिवीके अवहारकाल लानेकी विधियां	१७७
११०	छठी और सातवीं पृथिवियोंका संयुक्त अवहारकाल	१७९
१११	पांचवीं, छठी और सातवीं पृथिवियोंका संयुक्त अवहारकाल	१८०
११२	चौथी, पांचवीं, छठी और सातवीं पृथिवियोंका संयुक्त अवहारकाल	१८२
११३	तीसरीसे सातवीं तक पांच पृथिवियोंका संयुक्त अवहारकाल	१८३
११४	दूसरीसे सातवीं तक छह पृथिवियोंका संयुक्त अवहारकाल	१८४
११५	दूसरी आदि छह पृथिवियोंके संयुक्त अवहारकालसे प्रथम पृथिवीके अवहारकालके लानेकी विधि	१८६
११६	हानिरूप और प्रक्षेपरूप अंकोंका ज्ञान करानेके लिए अंकसंदृष्टि, तथा प्रक्षेपरूप राशिकी विधि	१८७
११७	राशिके हानिरूप विधानका अंकसंदृष्टि द्वारा स्पष्टीकरण	१९१
११८	सामान्य अवहारकालके एक विरलनके प्रति प्राप्त सामान्य द्रव्यके सातवीं पृथिवीके मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाण खंड करके उनका सातों पृथिवियोंमें विभाजन और इनपरसे प्रथम पृथिवीके अवहार-कालकी उत्पत्ति	१९३
११९	खंड शलाकाओंका आश्रय करके प्रकारान्तरसे प्रथम पृथिवीके मिथ्यादृष्टि अवहार कालकी उत्पत्ति	१९६
१२०	नरकगतिके सामान्य और विशेष-रूपसे अवहारकाल, विष्कंभ-सूची और प्रक्षेप अवहारकाल बतलानेवाली अंकसंदृष्टि	१९७
१२१	दूसरीसे सातवीं पृथिवी तकके मिथ्यादृष्टि नारकियोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	१९८
१२२	जगत्श्रेणीके कितने कितने वर्गमूलोंके परस्पर गुणा करनेसे किस किस पृथिवीके नारक मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण आता है, इसका स्पष्टीकरण और उसमें प्रमाण	२००
१२३	तृतीयादि पृथिवियोंके द्रव्यके आश्रयसे दूसरी पृथिवीके द्रव्य उत्पन्न करनेकी विधि	२०१
१२४	प्रथम पृथिवीके आश्रयसे दूसरी पृथिवीके द्रव्य उत्पन्न करनेकी विधि और इसी प्रकार शेष पृथिवियोंके द्रव्य उत्पन्न करनेकी सूचना	२०३
१२५	दूसरीसे सातवीं पृथिवीतक गुणस्थान प्रतिपन्न जीवोंका प्रमाण	२०६
१२६	दूसरीसे सातवीं पृथिवी तक गुणस्थान प्रतिपन्न जीवोंका प्रमाण ओघप्ररूपणाके समान कहनेसे उत्पन्न होनेवाले दोषका परिहार और सातों पृथिवियोंके गुणस्थान प्रतिपन्न जीवोंके अवहारकालोंका प्रतिपादन	२०६
१२७	नरकगति-सम्बन्धी भागाभाग	२०७
१२८	नरकगति-सम्बन्धी अल्पबहुत्व	२०८
	(तिर्यंचगति)	
१२९	मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक सामान्य तिर्यंचोंका प्रमाण, तथा सामान्य तिर्यंचोंका प्रमाण ओघप्रमाणके समान माननेपर आनेवाले दोषका परिहार	२१५
१३०	सामान्य तिर्यंच मिथ्यादृष्टियोंकी ध्रुवराशि और गुणस्थान प्रतिपन्न	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	सामान्य तिर्यंचोंका अवहारकाल	२१६
१३१	जहां राशिका अनन्तरूप प्रमाण बताया है वहां भी कालप्ररूपणासे द्रव्यप्ररूपणाकी सूक्ष्मता सिद्ध होती है, इसका स्पष्टीकरण	२१७
१३२	पंचेन्द्रियतिर्यंच मिथ्यादृष्टियोंका द्रव्य और कालकी अपेक्षा प्रमाण	२१७
१३३	असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीकालोंके बीतनेपर पंचेन्द्रिय तिर्यंच मिथ्यादृष्टिराशिके विच्छेद होनेकी शंकाका समाधान	२१८
१३४	पंचेन्द्रियतिर्यंच मिथ्यादृष्टि-राशिका क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण व उनके अवहारकालकी सिद्धि	२१९
१३५	पंचेन्द्रियतिर्यंच मिथ्यादृष्टियोंके अवहारकालका खंडित आदिके द्वारा प्ररूपण	२२०
१३६	पचेन्द्रियतिर्यंच मिथ्यादृष्टियोंकी विष्कंभसूची और द्रव्यका समर्थन	२२५
१३७	सासादन गुणस्थानसे लेकर सयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानमें पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका प्रमाण	२२६
१३८	द्रव्यप्रमाण आदिमें कथन करनेका प्रयोजन व द्रव्यप्रमाण अन्य प्रमाणोंसे स्तोक है, इसमें हेतु	२२७
१३९	द्रव्यप्रमाणसे कालप्रमाणके सूक्ष्मत्वकी सिद्धि	२२८
१४०	पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त मिथ्यादृष्टियोंका क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण, तथा उनके अवहारकालका स्पष्टीकरण	२२८
१४१	सासादन गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत तक पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तोंका प्रमाण	२२९
१४२	पंचेन्द्रिय तिर्यंच मिथ्यादृष्टि योनिमतियोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	२२९
१४३	पंचेन्द्रियतिर्यंच मिथ्यादृष्टि योनिमतियोंका अवहारकाल और उसके विषयमें मतभेद	२३०
१४४	पंचेन्द्रियतिर्यंच मिथ्यादृष्टि योनिमतियोके अवहारकालका खंडित आदिके द्वारा कथन	२३२
१४५	पंचेन्द्रिय तिर्यंच मिथ्यादृष्टि योनिमतियोंकी विष्कंभसूची और द्रव्यका वर्णन	२३७
१४६	सासादन गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानमें पंचेन्द्रियतिर्यंच योनिमतियोंका प्रमाण तथा उसे ओघवत् कहनेसे उत्पन्न हुई आपत्तिका परिहार	२३७
१४७	पंचेन्द्रियतिर्यंच योनिमती असंयतसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सासादन और संयतासंयतका अवहारकाल	२३८
१४८	पंचेन्द्रियतिर्यंच पर्याप्तोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि पुरुषवेदियोंसे असंयतसम्यग्दृष्टि स्त्रीवेदियोके और स्त्रीवेदियोंसे, नपुंसकवेदियोके उत्तरोत्तर कम होनेका कारण	२३८
१४९	पंचेन्द्रियतिर्यंच तीन वेदवाले सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंसे पंचेन्द्रियतिर्यंच योनिमती असंयतसम्यग्दृष्टि जीव कम हैं, या अधिक हैं, इस विषयमें उपदेशका अभाव	२३८
१५०	पंचेन्द्रियतिर्यंच अपर्याप्तोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण व अवहारकालका निरूपण	२३९
१५१	तिर्यंचगति सम्बन्धी भागाभाग और अल्पबहुत्व	२४०

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	(मनुष्यगति)	
१५२	सामान्य मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	२४४
१५३	सामान्य मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंका अवहारकाल व खंडित आदिके द्वारा उसका कथन	२४६
१५४	मध्यम विकल्प और उपरिम विकल्पमें भेद	२४८
१५५	मनुष्य मिथ्यादृष्टि अवहार कालका जगत्श्रेणीमें भाग देने पर रूप अधिक मिथ्यादृष्टिराशि आती है, इसमें प्रमाण	२४९
१५६	ओज और युग्म राशियोंके भेद-प्रभेद और उनके लक्षण	२४९
१५७	यहां जीवस्थानमें मनुष्य मिथ्यादृष्टि अवहारकालका जगत्श्रेणीमें भाग देनेपर रूप अधिक सासादनादि तेरह गुणस्थानवर्ती अपनयनराशि आती है, इसका समर्थन	२५०
१५८	मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंके अवहारकालका कथन	२५१
१५९	सासादन गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें सामान्य मनुष्योंका प्रमाण	२५१
१६०	सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्योंके प्रमाणमें मतभेद	२५२
१६१	प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक मनुष्योंका प्रमाण	२५२
१६२	पर्याप्त मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण और खंडित आदिके द्वारा उसका कथन	२५३
१६३	पर्याप्त मनुष्यराशिमेंसे गुणस्थानप्रतिपन्नराशिके घटा देनेपर मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण होता है, इसका समर्थन	२५४
१६४	दो वेदवाले मनुष्य पर्याप्तोंका अवहारकाल और उनका प्रमाण	२५४
१६५	बादालके घनप्रमाण मनुष्य पर्याप्तराशि है, इस मतका खंडन और सूत्रप्रतिपादित मतका समर्थन	२५५
१६६	सासादनगुणस्थानसे लेकर संयतासंयततक प्रत्येक गुणस्थानमें पर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण	२५९
१६७	प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवलि गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें पर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण	२६०
१६८	मनुष्यनियोंमें मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण व अवहारकाल निरूपण	२६०
१६९	सासादन गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानमें मनुष्यनियोंका प्रमाण, तथा गुणस्थान-प्रतिपन्न मनुष्यनी गुणस्थान-प्रतिपन्न सामान्य मनुष्योंके संख्यातवें भाग होती हैं, इसमें हेतु	२६१
१७०	लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	२६२
१७१	मनुष्यगतिसम्बन्धी भागाभाग और अल्पबहुत्व	२६४
	(देवगति)	
१७२	सामान्यदेवोंमें मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण	२६६
१७३	संख्यात, असंख्यात और अनन्तके लक्षण व परस्पर भेद	२६७
१७४	काल और क्षेत्रकी अपेक्षा सामान्य देव मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण	२६८
१७५	सासादन गुणस्थानसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	प्रत्येक गुणस्थानमें सामान्य देवोंका प्रमाण	२६९
१७६	असंयतसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि देवोंका अवहारकाल	२६९
१७७	भवनवासी मिथ्यादृष्टियोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	२७०
१७८	सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि भवनवासियोंका प्रमाण	२७१
१७९	वानव्यन्तर मिथ्यादृष्टि देवोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	२७२
१८०	वानव्यन्तर और योनिमतियोंके अवहारकालमें मतभेद और उसका निर्णय	२७३
१८१	सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि वानव्यन्तरोंका प्रमाण	२७४
१८२	ज्योतिषी देवोंका प्रमाण व उस प्रमाणको सामान्य देवराशिके समान कहनेसे आनेवाले दोषका परिहार	२७५
१८३	ज्योतिषी देवोंका अवहारकाल	२७६
१८४	सौधर्म और ऐशान कल्पवासी मिथ्यादृष्टि देवोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	२७६
१८५	सौधर्म और ऐशान मिथ्यादृष्टि देवोंकी विष्कंभसूची	२७७
१८६	खुद्दाबंधमें सामान्यसे जीवोंका प्रमाण कहते समय जो विष्कंभसूचियां बतलाई हैं, वे ही यहां विशेषरूपसे जीवोंका प्रमाण बताते समय कही गई हैं, अतः यह कथन परस्पर विरुद्ध है, इस प्रकार उत्पन्न हुई शंकाका समाधान	२७८
१८७	सौधर्म और ऐशान कल्पवासी सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि देवोंका प्रमाण, तथा सनत्कुमारसे लेकर शतार सहस्रार कल्पतक मिथ्यादृष्टि देवोंका प्रमाण और भागहार	२८०
१८८	आनत-प्राणत कल्पसे लेकर नव ग्रैवेयक तक मिथ्यादृष्टचादि चारों गुणस्थानवर्ती देवोंका प्रमाण	२८१
१८९	अनुदिशोंसे लेकर अपराजित अनुत्तरविमानतक असंयतसम्यग्दृष्टि देवोंका प्रमाण	२८१
१९०	गुणस्थान-प्रतिपन्न सर्व देवोंके अवहारकाल	२८२
१९१	आनतादि उपरिम गुणस्थान-प्रतिपन्न देवोंका प्रमाण पल्योपमके असंख्यातवें भाग है, यह वचन 'इसके द्वारा अन्तर्मुहूर्तसे पल्योपम अपहृत होता है' ऐसा विशेषित करके क्यों कहा ? इसकी सफलता	२८५
१९२	सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवोंका प्रमाण	२८६
१९३	देवगतिसंबंधी भागाभाग	२८६
१९४	देवगतिसंबंधी अल्पबहुत्व	२८८
१९५	चतुर्गतिसंबंधी भागाभाग	२९५
१९६	चतुर्गतिसंबंधी अल्पबहुत्व	२९७
	२ इन्द्रियमार्गणा	३०५-३२९
१९७	सामान्य एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय और इन तीनोंके पर्याप्त तथा अपर्याप्तोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३०५
१९८	उक्त नौ राशियोंकी ध्रुवराशियां	३०७
१९९	खंडित आदिके द्वारा उक्त नौ राशियोंका वर्णन	३०८
२००	पर्याप्त और अपर्याप्त विकलत्रय जीवोंका द्रव्यकी अपेक्षा प्रमाण	३१०
२०१	प्रकृतमें पर्याप्त और अपर्याप्त	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय पदसे किनका ग्रहण किया गया है, इसका स्पष्टीकरण	३११
२०२	सयोगिकेवलीके पंचेंद्रियत्वका समर्थन	३११
२०३	विकलत्रय जीवोंका कालकी अपेक्षा प्रमाण	३१२
२०४	द्वीन्द्रियादि राशियां सर्वथा आयसहित होनेसे विछिन्न नहीं होती हैं, फिरभी ये असंख्यातासंख्यात अपसर्पिणीयों और उत्सर्पिणियोंके द्वारा विच्छिन्न होती है, ऐसे विरोधका परिहार	३१२
२०५	विकलत्रय जीवोंका क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३१३
२०६	पंचेन्द्रियसामान्य और पंचेन्द्रियपर्याप्तोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३१४
२०७	विकलत्रयोंके प्रमाण-प्रतिपादक सूत्रके साथ पचेन्द्रियोंके प्रमाणका प्रतिपादक सूत्र क्यों नहीं कहा, इसका स्पष्टीकरण	३१५
२०८	विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रियोंका अवहारकाल तथा द्रव्यप्रमाण	३१५
२०९	सासादनगुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक पंचेन्द्रियसामान्य और पंचेन्द्रियपर्याप्तोंका प्रमाण	३१७
२१०	जिनकी इन्द्रिया नष्ट हो गई है, ऐसे सयोगी अयोगी जिनको पंचेन्द्रिय कैसे कहा जा सकता है, इस शंकाका समाधान	३१७
२११	लब्ध्यपर्याप्त पंचेन्द्रियोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३१७
२१२	लब्ध्यपर्याप्त पंचेन्द्रियोंके प्रमाणका प्रतिपादक सूत्र पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टियोके प्रमाण प्रतिपादक सूत्रके साथ नहीं कहनेका कारण	३१८
२१३	अपर्याप्तकालमें गुणस्थान प्रतिपन्न जीव लब्ध्यपर्याप्त नहीं होते, इसका समर्थन	३१८
२१४	इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा भागाभाग	३१८
२१५	इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा अल्पबहुत्व	३२२
	३ कायमार्गणा	३२९ ३८६
२१६	पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, तथा बादरपृथिवीकायिक, बादरअप्कायिक, बादरतैजस्कायिक, बादरवायुकायिक, बादरवनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर तथा इन पांच बादरोंके अपर्याप्त, सूक्ष्मपृथिवीकायिक, सूक्ष्मअप्कायिक, सूक्ष्मतैजस्कायिक, सूक्ष्मवायुकायिक, तथा इन चार सूक्ष्मोंके पर्याप्त और अपर्याप्त प्रमाण	३२९
२१७	पृथिवीकायिकका अर्थ, प्रसंगसे कर्मके भेदोंका उल्लेख, तथा बादरका स्वरूप	३३०
२१८	पृथिवीकायिक आदिके प्रत्येक होते हुए उन्हें 'प्रत्येकशरीर' यह विशेषण क्यों नहीं लगाया जाता है, इसका स्पष्टीकरण	३३१
२१९	सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त इनके स्वरूपोंका स्पष्टीकरण	३३१
२२०	विग्रहगतिमें विद्यमान वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक है या साधारण, इस शंकाका समाधान	३३२
२२१	तैजस्कायिक राशिके उत्पन्न करनेकी विधि	३३४
२२२	चौथीवार कितनी गुणकारशलाकाओंके जानेपर तैजस्कायिकराशि उत्पन्न होती है, इससे	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	लेकर इस विषयमें अनेक मतान्तरोंका उल्लेख, और कौन मत पूर्व परपरागत है, इसका समर्थन	३३७
२२३	प्रकारान्तरसे तैजस्कायिकराशिके उत्पन्न करनेका विधान	३३९
२२४	खंडित आदिके द्वारा तैजस्कायिकराशिका वर्णन	३४०
२२५	तैजस्कायिकराशिसे पृथिवी, जल और वायुकायिकराशिके उत्पन्न करनेकी प्रक्रिया, तथा इन्हीं तीनों राशियोंके अवहारकाल	३४१
२२६	प्रकृतोपयोगी करणसूत्र, तथा उक्त चारों राशियोंके सूक्ष्म, सूक्ष्मपर्याप्त, सूक्ष्मअपर्याप्त और बादरराशिसम्बन्धी अवहार काल	३४२
२२७	बादरतैजस्कायिक आदि राशियोंके अर्धच्छेद	३४४
२२८	बादरतैजस्कायिकराशिकी सतरह प्रकारकी प्ररूपणा	३४४
२२९	बादरवनस्पति प्रत्येक शरीरराशिकी सतरह प्रकारकी प्ररूपणा, तथा दूसरी बादरराशियोंकी पूर्वोक्त राशियोंके समान प्ररूपण करनेकी सूचना	३४६
२३०	सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिमें भेद	३४७
२३१	सूत्रमें बादर वनस्पति प्रत्येक शरीरका ही प्रमाण कहा, उनके भेदोंका नहीं, इसका कारण	३४८
२३२	बादरपृथिवीकायिक पर्याप्त, बादरअप्कायिक पर्याप्त और बादरवनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्त राशियोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३४८
२३३	उक्त तीनों राशियोंके भागहार	३५०
२३४	बादरतैजस्कायिक पर्याप्तराशिका प्रमाण, अवहारकाल व खंडित आदिसे राशिका कथन	३५१
२३५	बादरतैजस्कायिक पर्याप्तराशिका प्रमाण	३५५
२३६	बादरवायुकायिक पर्याप्तराशिका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३५५
२३७	बादरवायुकायिक पर्याप्तराशिका प्रमाण	३५६
२३८	भेद-प्रभेदयुक्त वनस्पतिकायिक जीवोंका द्रव्य-प्रमाण	३५६
२३९	'जिनका शरीर वनस्पतिरूप होता है उन्हें वनस्पतिकायिक कहते हैं' वनस्पतिकायिकका ऐसा अर्थ करनेपर विग्रहगतिमें स्थित जीवोंको वनस्पतिकायिकत्व कैसे प्राप्त होता है, इस शंकाका समाधान	३५७
२४०	भेद-प्रभेदयुक्त वनस्पतिकायिक जीवोंका काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३५८
२४१	पूर्वोक्त जीवराशियोंकी ध्रुवराशियां	३५९
२४२	त्रसकायिकसामान्य और त्रसकायिकपर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीवोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३६०
२४३	सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक त्रसकायिक सामान्य और त्रसकायिकपर्याप्तोंका प्रमाण	३६२
२४४	लब्ध्यपर्याप्त त्रसकायिकोंका प्रमाण	३६२
२४५	लब्ध्यपर्याप्त त्रसकायिकोंका प्रमाण लब्ध्यपर्याप्त पंचेन्द्रियोंके प्रमाणके समान कहनेसे उत्पन्न हुई आपत्तिका परिहार	३६३
२४६	कायमार्गणासम्बन्धी भागभाग	३६३
२४७	कायमार्गणासम्बन्धी अल्पबहुत्व	३६५

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	४ योगमार्गणा	३८६-४१३
२४८	पांचों मनोयोगी तथा सत्य उभय और असत्य इस तीन वचनयोगी जीवोंका प्रमाण	३८६
२४९	उक्त आठ राशियां देवोंके संख्यातवें भाग क्यों हैं ? इसका समर्थन	३८६
२५०	सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर संयतासंयततक उक्त आठों राशियोंका प्रमाण तथा उसका ओघप्ररूपणाके समान कथन करनेमें हेतु	३८७
२५१	प्रमत्तसंयतसे लेकर सयोगिकेवली तक उक्त आठों राशियोंका प्रमाण	३८७
२५२	प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानोंमें आठ राशियोंका प्रमाण ओघसमान न कहनेका कारण	३८८
२५३	वचनयोगी और अनुभयवचनयोगी मिथ्यादृष्टिजीवोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	३८८
२५४	सासादनादि गुणस्थानवर्ती उक्त राशियोंका प्रमाण	३९०
२५५	स्व-भेद-युक्त मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीवोंके अवहारकाल और जीवराशियां	३९०
२५६	काययोगी और औदारिककाययोगी मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण	३९५
२५७	सासादनगुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली तक काययोगी और औदारिककाययोगियोंका प्रमाण, ध्रुवराशि तथा अवहार काल	३९५
२५८	औदारिकमिश्रकाययोगी मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण और ध्रुवराशि	३९६
२५९	औदारिककाययोगराशिके संख्यातवें भाग औदारिकमिश्रकाययोगराशिके होनेमें हेतु	३९६
२६०	औदारिकमिश्रकाययोगी सासादनसम्यग्दृष्टियोंका प्रमाण और अवहारकाल	३९७
२६१	औदारिकमिश्रकाययोगी असंयतसम्यग्दृष्टि और सयोगिकेवली जिनोंका प्रमाण	३९७
२६२	वैक्रियिककाययोगी मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण व अवहारकाल	३९८
२६३	वैक्रियिककाययोगी सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवराशिका प्रमाण व अवहारकाल	३९९
२६४	वैक्रियिकमिश्रकाययोगी मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण	४००
२६५	वैक्रियिकमिश्रकाययोगी सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४०१
२६६	आहारककाययोगी प्रमत्तसंयतोंका प्रमाण	४०१
२६७	आहारमिश्रकाययोगी प्रमत्तसंयतोंका प्रमाण व मतान्तर परिहार	४०२
२६८	कार्मणकाययोगी मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण व ध्रुवराशि	४०२
२६९	कार्मणकाययोगी सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४०३
२७०	कार्मणकाययोगी सयोगिजिनोंका प्रमाण	४०४
२७१	योगमार्गणा सम्बन्धी भागाभाग	४०४
२७२	योगमार्गणा सम्बन्धी अल्पबहुत्व	४०८
	५ वेदमार्गणा	४१३-४२४
२७३	स्त्रीवेदी मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण, देवियोंके प्रमाणकी खुद्दाबंधसे सिद्धि और स्त्रीवेदियोंका अवहारकाल	४१३
२७४	सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानमें स्त्रीवेदियोंका	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	प्रमाण	४१४
२७५	स्त्रीवेदी असंयतसम्यग्दृष्टि कम होनेका कारण	४१५
२७६	प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण उपशमक व क्षपकके सवेदभाग तक स्त्रीवेदियोंका प्रमाण	४१५
२७७	पुरुषवेदी मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण व अवहारकाल	४१६
२७८	सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण उपशमक व क्षपकके सवेद भाग तक पुरुष वेदियोंका प्रमाण व अवहारकाल	४१६
२७९	मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत तकके नपुंसक वेदियोंका प्रमाण व अवहारकाल	४१७
२८०	प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण उपशमक क्षपकके सवेद भाग तक नपुंसकवेदियोंका प्रमाण	४१८
२८१	स्त्रीवेदी प्रमत्तादि राशिसे भी नपुंसकवेदी प्रमत्तादि राशिके संख्यातवें भाग होनेका कारण	४१९
२८२	अपगतवेदी उपशामकोंका प्रवेशकी अपेक्षा प्रमाण	४१९
२८३	उपशान्तकषायजीवके उपशामक संज्ञा कैसे है, इस शंकाका समाधान	४१९
२८४	अपगतवेदी उपशामकोंका सचयकालकी अपेक्षा प्रमाण	४२०
२८५	अपगतवेदी तीनों क्षपक और अयोगिकेवलियोंका प्रमाण	५२०
२८६	अपगतवेदी सयोगिकेवलियोंका प्रमाण	४२१
२८७	वेदमार्गणासंबन्धी भागाभाग व अल्पबहुत्व	४११
	६ कषायमार्गणा	४२४-४३६
२८८	क्रोध, मान, माया और लोभकषायी जीवोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानमें जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४२४
२८९	प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्ति गुणस्थान तक चारों कषायवाले जीवोंका प्रमाण	४२८
२९०	लोभकषायी उपशमक व क्षपक सूक्ष्मसांपरायिकसंयतोंका प्रमाण	४२९
२९१	अकषायी जीवोंमें उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थोंका प्रमाण और द्रव्यकर्म चार प्रकारका होनेसे चार भेदोंमें विभक्त मूल उपशान्तकषायराशि प्रत्येक प्रमाणको कैसे प्राप्त होते है, इस शंकाका समाधान	४३०
२९२	अकषायी क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ और अयोगिकेवली जिनोका प्रमाण	४३०
२९३	अकषायी सयोगिकेवली जिनोंका प्रमाण	४३१
२९४	कषायमार्गणासंबन्धी भागाभाग	४३२
२९५	कषायमार्गणासंबन्धी अल्पबहुत्व	४३३
	७ ज्ञानमार्गणा	४३६-४४६
२९६	मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण, ध्रुवराशि और अवहारकाल	४३६
२९७	विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४३७
२९८	विभंगज्ञानी सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण	४३८
२९९	मति, श्रुत और अवधिज्ञानी जीवोमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुण-	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	स्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुण-स्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४३९
३००	अवधिज्ञानियोंमें प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें जीवोंका प्रमाण	४४१
३०१	मनःपर्ययज्ञानियोंमें प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक जीवोंका प्रमाण	४४१
३०२	केवलज्ञानियोंमें सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जिनोंका प्रमाण	४४२
३०३	ज्ञानमार्गणासंबन्धी भागाभाग	४४२
३०४	ज्ञानमार्गणासंबन्धी अल्पबहुत्व	४४४
	८ संयममार्गणा	४४७-४५२
३०५	संयमी जीवोंमें प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतकका प्रमाण	४४७
३०६	सामायिक और छेदोपस्थापना-संयतोंमें प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानका प्रमाण व दोनों संयतोंके भेदाभेद विषयक शंकाका समाधान	४४७
३०७	परिहारविशुद्धिसंयमवाले प्रमत्त और अप्रमत्तसंयतोंका प्रमाण	४४९
३०८	सूक्ष्मसाम्पराय[illegible]मवाले उप-शमक व क्षपक[illegible]स्थानसे [illegible]ण तक	४४९
३०९	यथाख्यातसंय[illegible]रिककाययो[illegible] संयमी और असयम[illegible]राशि तथा अ[illegible] पृथक् पृथक् प्रमाण	४५०
३१०	संयममार्गणासंबन्धी [illegible]ी भाग	४५१
३११	संयममार्गणासंबन्धी [illegible]हुत्व	४५१
	९ दर्शनमार्गणा	४५३-४५९
३१२	चक्षुदर्शनी मिथ्यादृष्टि जीवोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	४५३
३१३	चक्षुदर्शनी जीव किसे कहते हैं, इस विषयका ऊहापोहात्मक शंका–समाधान	४५३
३१४	चक्षुदर्शनी जीवोंमें सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक के जीवोंका प्रमाण	४५४
३१५	अचक्षुदर्शनीयोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतकके जीवोंका प्रमाण व ध्रुवराशि	४५५
३१६	अवधिदर्शनी जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४५५
३१७	केवलदर्शनी जीवोंका प्रमाण	४५६
३१८	श्रुतदर्शन और मनःपर्ययदर्शन क्यों नहीं होता है, इस शंकाका समाधान	४५६
३१९	ज्ञानमार्गणासंबन्धी भागाभाग	४५७
३२०	ज्ञानमार्गणासंबन्धी अल्पबहुत्व	४५८
	१० लेश्यामार्गणा	४५९-४७१
३२१	कृष्ण, नील और कापोत लेश्या-वालोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुण-स्थानतक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण व ध्रुवराशि	४५९
३२२	तेजोलेश्यावाले जीवोंमें मिथ्या-दृष्टि जीवोंका प्रमाण अवहार-काल	४६१
३२३	तेजोलेश्यावाले जीवोंमें सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतकके जीवोंका प्रमाण	४६२
३२४	पद्मलेश्यावाले जीवोंमें मिथ्या-दृष्टि जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४६३
३२५	पद्मलेश्यावाले जीवोंमें सासादन गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतकके जीवोंका प्रमाण	४६३
३२६	शुक्ललेश्यावाले जीवोंमें मिथ्या-	

क्रम नं.	विषय	पृष्ठ नं.
	दृष्टि गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४६३
३२७	शुक्ललेश्यावाले जीवोंमें प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण	४६५
३२८	लेश्यामार्गणासंबन्धी भागाभाग	४६६
३२९	लेश्यामार्गणासंबधी अल्पबहुत्व	४६७
	११ भव्यमार्गणा	४७२-४७३
३३०	भव्यसिद्धिक जीवोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें जीवोंका प्रमाण	४७२
३३१	अभव्यसिद्धिक जीवोंका प्रमाण	४७२
३३२	भव्यमार्गणासम्बन्धी भागाभाग और अल्पबहुत्व	४७३
	१२ सम्यक्त्वमार्गणा	४७४-४८१
३३३	सम्यग्दृष्टि जीवोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें जीवोंका प्रमाण	४७४
३३४	क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशान्तकषाय गुणस्थान तकके जीवोंका प्रमाण	४७४
३३५	क्षायिकसम्यग्दृष्टि संयतासंयत संख्यात ही क्यों होते हैं, इस शंकाका समाधान	४७५
३३६	क्षायिकसम्यग्दृष्टि चारों क्षपक व अयोगिकेवली जिनोंका प्रमाण	४७५
३३७	क्षायिकसम्यग्दृष्टि सयोगिकेवली जिनोंका प्रमाण	४७६
३३८	वेदकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तकके जीवोंका प्रमाण	४७६
३३९	उपशमसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशान्तकषाय गुणस्थानतकके जीवोंका प्रमाण	४७६
३४०	सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४७७
३४१	सम्यक्त्वमार्गणासंबन्धी भागाभाग	४७९
३४२	सम्यक्त्वमार्गणासंबन्धी अल्पबहुत्व	४७९
३४३	प्रमत्तसंयत वेदकसम्यग्दृष्टियोंसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि संयतासंयत जीव संख्यातगुणे कैसे हो सकते है, इस शंकाका समाधान	४८०
	१३ संज्ञीमार्गणा	४८२-४८३
३४४	संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण व अवहारकाल	४८२
३४५	संज्ञी जीवोंमें सासादन गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषायगुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण	४८२
३४६	असंज्ञी जीवोंका द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	४८३
३४७	संज्ञीमार्गणासंबन्धी भागाभाग व अल्पबहुत्व	४८३
	१४ आहारमार्गणा	४८३-४८७
३४८	आहारक जीवोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानमें आहारक जीवोंका प्रमाण व ध्रुवराशि	४८३
३४९	अनाहारक जीवोंका प्रमाण, ध्रुवराशि व अवहारकाल	४८४
३५०	अनाहारक अयोगिकेवली जीवोंका प्रमाण	४८५
३५१	आहारमार्गणासंबन्धी भागाभाग	४८५
३५२	आहारमार्गणासंबंधी अल्पबहुत्व	४८५

८ अर्थसंबधी विशेष सूचना

१. पृष्ठ ४७ की गाथा नं. २८ का प्रतियोंमें उपलब्ध पाठको रखते हुए अर्थ

दो हारोंके अन्तरसे एक हारमे भाग देने पर जो लब्ध आता है उससे भाजित पूर्व लब्धका, तथा दोनों हारोंसे अलग अलग भाजित भाज्यके भजनफलोंका अन्तर हानिवृद्धिरूप होता है। (अर्थात् उपर्युक्त दोनो प्रक्रियाओंका फल बराबर ही होता है और समानरूपसे घटता बढ़ता है।)

उदाहरण (बीजगणितसे)—

भाज्य = अ; हार (भाजक) = ब और स, पूर्वलब्ध $\frac{अ}{ब} = क$

१) यदि स से ब छोटा है तो— $\frac{अ}{ब} - \frac{अ}{स} = क \div \frac{स}{स-ब}$

२) यदि स से ब बडा है तो— $\frac{अ}{स} - \frac{अ}{स} = क \div \frac{स}{ब-स}$

(अंकगणितसे)—

भाज्य = ३६; हार (भाजक) = ६ और ९;

पूर्वलब्ध = $\frac{३६}{६} = ६$, दूसरा लब्ध $\frac{३६}{९} = ४$; हारान्तर ९ − ६ = ३.

$\frac{९}{३} = ३$; $\frac{६}{३} = २$, ६ − ४ = २.

२. पृष्ठ ५०–५१ परके पश्चिम विकल्पका स्पष्टीकरण

पृ. ५०–५१ पर मूलमें जो पश्चिमविकल्प बतलाया गया है, उसके सम्बन्धमे हमारे सन्मुख दो आपत्तियां उपस्थित हुई, कि एक तो वह धवलाकार द्वारा स्वीकृत अकसदृष्टिसे घटित नही होता और दूसरे प्रकृतमे उसका कोई फल नही दिखाई देता। इन्ही आपत्तियोंको दूर करनेके लिये मूलमे प्राप्त पाठ रखकर भी अनुवादमें हमने उस पाठका संशोधन सुझाया है। तथापि एक तरहसे बीजगणित द्वारा मूलमें दिया हुआ गणित सिद्ध भी हो सकता। जैसे—

मानलो, जीवराशि = क, मिथ्यादृष्टिराशि = अ, सिद्धतेरसराशि = ब; अ = क − ब.

अब चूकि क अनन्तराशि है, अतएव— क + १ = क; क − १ = क.

अब मूल पाठानुसार–

$$\frac{क^२}{क+\frac{अ}{व}} = \frac{क^२}{क+\frac{क-व}{व}} = \frac{क^२}{(क-१)+\frac{क}{व}} = \frac{क^२}{क+\frac{क}{व}}$$

$$= क - \frac{क}{व+१} = क - \frac{क}{व}$$

किन्तु यह उदाहरण बनता तभी है, जब यह मान लिया जाय कि अनन्तमें एक घटाने व एक बढ़ानेसे अनन्त ही रहा है। अतएव यह उदाहरण अंकसंदृष्टिसे नही बतलाया जा सकता।

९ पाठसंबंधी विशेष सूचना

पृ. २८८ की पंक्ति ९ मे 'एवं जोइसिय .....' आदिसे लगाकर पृ. २९० पंक्ति २ के 'एगपदत्तादो' तकका पाठ प्रतियोमे व मूडबिद्रीकी प्रतिमे निम्न प्रकार है, जो धवलाकारकी अन्यत्र पाठ-व्यवस्थासे कुछ भिन्न है। हमने उसे मुद्रणमे अन्यत्रकी व्यवस्थानुसार कुछ हेरफेरसे रख दिया है और उसका कारण भी वही दे दिया है। किन्तु पाठकोंकी सूचनाके लिये वह पूरा पाठ प्रतियोके अनुसार यहा दिया जाता है–

परत्थाणे पयदं। सव्वत्थोवो असंजदसम्माइट्ठिअवहारकालो। एवं णेयव्वं जाव पलिदोवमो त्ति। तदो उवरि मिच्छाइट्ठिअवहारकालो असंखेज्जगुणो। को गुणगारो? सगअवहारकालस्स असंखेज्जदिभागो। को पडिभागो? पलिदोवमो। अहवा पदरंगुलस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जाणि सूचिअंगुलाणि। केत्तियमेत्ताणि? सूचिअंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्ताणि। को पडिभागो? पलिदोवमस्स संखेज्जदिभागो। उवरि सत्थाणभंगो। एवं जोइसियवाणवेंतराणं पि णेयव्वं। भवणवासियाणं सत्थाणे सव्वत्थोवा मिच्छाइट्ठिविक्खंभसूई। अवहारकालो असंखेज्जगुणो। को गुणगारो? सगअवहारकालस्स असंखेज्जदिभागो। को पडिभागो? विक्खंभसूई। अहवा सेढीए अपंखेज्जदिभागो असंखेज्जाणि सेढिपढमवग्गमूलाणि। को पडिभागो? विक्खंभसूचिवग्गो। अहवा घणंगुलं। सेढी असंखेज्जगुणा। को गुणगारो? सगविक्खंभसूई दव्वमसंखेज्जगुणं। को गुणगारो? विक्खंभसूई। पदरमसंखेज्जगुणं को गुणगारो? अवहारकालो। लोगो असंखेज्जगुणो। को गुणगारो? सेढी। सासणादीणं मूलोघभंगो। भवणवासियाणं सव्वत्थोवो असंजदसम्माइट्ठिअवहारकालो। एवं णेयव्वं जाव पलिदोवमो त्ति। तदो उवरि भवणवासियमिच्छाइट्ठिविक्खंभसूई असंखेज्जगुणा। को गुणगारो? सगविक्खंभसूईए असंखेज्जदिभागो। को पडिभागो? पलिदोवमो। अहवा पदरंगुलस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जाणि सूचिअंगुलाणि। केत्तियमेत्ताणि? सूचिअंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जदिभागमेत्ताणि। को पडिभागो? पलिदोवमो। उवरि सगसत्थाणभंगो। सोहम्मादि जाव उवरिमउवरिमगेवज्जो त्ति सत्थाणप्पाबहुगं जाणिय णेयव्वं। उवरि परत्थाणं णत्थि, तत्थ सेसगुणट्ठाणाणमभावादो। सव्वट्ठे सत्थाणं पि णत्थि एकपदत्तादो।

मंगलाचरणम्

पंच-परमेट्ठि-वंदणं

(धवलान्तर्गतम्)

सिद्धा दद्धट्ठमला विसुद्ध-बुद्धी य लद्ध-सव्वत्था ।
तिहुवण-सिर-सेहरया पसियंतु भंडारया सव्वे ॥ १ ॥

तिहुवण-भवणप्पसरिय-पच्चक्खवबोह-किरण-परिवेढो ।
उइओ वि अणत्थवणो अरहंत-दिवायरो जयऊ ॥ २ ॥

ति-रयण-खग्ग-णिहाएणुत्तारिय-मोह-सेण्ण-सिर-णिवहो ।
आइरिय-राउ पसियउ परिवालिय-भविय-जिय-लोओ ॥ ३ ॥

अण्णाणयंधयारे अणोरपारे भमंत-भवियाणं ।
उज्जोओ जेहि कओ पसियंतु सया उवज्झाया ॥ ४ ॥

संधारिय-सीलहरा उत्तारिय-चिरपमाद-दुस्सीलभरा ।
साहू जयंतु सव्वे सिव-सुह-पह-संठिया हु णिग्गलिय-भया ॥ ५ ॥

जयउ धरसेण-णाहो जेण महाकम्म-पयडि-पाहुड-सेलो ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स ॥ ६ ॥

सिरि-भगवंत-पुप्फदंत-भूदबलि-पणीदे

छक्खंडागमे

जीवट्ठाणं

तस्स

सिरि-वीरसेणाइरिय-विरइया टीका

धवला

केवलणाणुज्जोइयछद्दव्वमणिज्जियं पवाईहि ।
णमिऊण जिणं भणिमो दव्वणिओगं गणियसारं ॥ १ ॥

संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाण-पडिबोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह--

दव्वपमाणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥१॥

जिन्होंने केवलज्ञानके द्वारा छह द्रव्योंको प्रकाशित किया है और जो प्रवादियोंके द्वारा नहीं जीते जा सके ऐसे जिनेन्द्रदेवको मैं (वीरसेन आचार्य) नमस्कार करके गणितकी जिसमें मुख्यता है ऐसे द्रव्यानुयोगका प्रतिपादन करता हूं ॥ १ ॥

विशेषार्थ--द्रव्यानुयोगका दूसरा नाम द्रव्यप्रमाणानुगम या संख्याप्ररूपणा है । यद्यपि द्रव्य छह है फिर भी इस अधिकारमें गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंका आश्रय लेकर केवल जीवद्रव्यकी संख्याका ही प्ररूपण किया गया है ।

जिन्होंने चौदहों गुणस्थानोंके अस्तित्वको जान लिया है ऐसे शिष्योंको अब उन्हीं चौदहों गुणस्थानोंके अर्थात् चौदहों गुणस्थानवर्ती जीवोंके परिमाण (संख्या) के ज्ञान करानेके लिये भूतबलि आचार्य आगेका सूत्र कहते है--

द्रव्यप्रमाणानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है, ओघनिर्देश और आदेश-निर्देश ॥ १ ॥

द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत्पर्यायानिति द्रव्यम् । अथवा द्रूयते द्रोष्यते अद्राविषं पर्याय इति द्रव्यम् । तं च दव्वं दुविहं, जीवदव्वं अजीवदव्वं चेदि । तत्थ जीवदव्वस्स लक्खणं वुच्चदे । तं जहा, ववगदपंचवण्णो ववगदपंचरसो ववगददुगंधो ववगद-अट्ठफासो सुहुमो अमुत्ती अगुरुगलहुओ असंखेज्जपदेसिओ अणिद्दिट्ठसंठाणो त्ति एदं जीवस्स साहारणलक्खणं । उड्ढगई भोत्ता सपरप्पगासओ त्ति जीवदव्वस्स असाहारणलक्खणं । उत्तं च---

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं[1] ॥ १ ॥

जं तं अजीवदव्वं तं दुविहं, रूवि-अजीवदव्वं अरूवि-अजीवदव्वं चेदि । तत्थ जं तं रूवि-अजीवदव्वं तस्स लक्खणं वुच्चदे-- रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः[2] रूपि

जो पर्यायोंको प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ है उसे द्रव्य कहते हैं। अथवा, जिसके द्वारा पर्याय प्राप्त की जाती है, प्राप्त की जायेगी और प्राप्त की गई थी उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य दो प्रकारका है, जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। उनमेंसे जीवद्रव्यका लक्षण कहते हैं। वह इसप्रकार है, जो पांच प्रकारके वर्णसे रहित है, पांच प्रकारके रससे रहित है, दो प्रकारके गन्धसे रहित है, आठ प्रकारके स्पर्शसे रहित है, सूक्ष्म है, अमूर्ति है, अगुरूलघु है, असंख्यातप्रदेशी है और जिसका कोई संस्थान अर्थात् आकार निर्दिष्ट नहीं है वह जीव है। यह जीवका साधारण लक्षण है। अर्थात् यह लक्षण जीवको छोड़कर दूसरे धर्मादि अमूर्त द्रव्योंमें भी पाया जाता है, इसलिये इसे जीवका साधारण लक्षण कहा है। परंतु ऊर्ध्वगतिस्वभावत्व, भोक्तृत्व और स्वपरप्रकाशकत्व यह जीवका असाधारण लक्षण है अर्थात् यह लक्षण जीवद्रव्यको छोड़कर दूसरे किसी भी द्रव्यमें नहीं पाया जाता है, इसलिये इसे जीवद्रव्यका असाधारण लक्षण कहा है। कहा भी है---

जो रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्शगुणकी व्यक्तिसे रहित है, चेतनागुणयुक्त है, शब्दपर्यायसे रहित है, जिसका लिंगके द्वारा ग्रहण नहीं होता है और जिसका संस्थान अनिर्दिष्ट है अर्थात् सब संस्थानोंसे रहित जिसका स्वभाव है उसे जीवद्रव्य जानो ॥ १ ॥

अजीवद्रव्य दो प्रकारका है, रूपी अजीवद्रव्य और अरूपी अजीवद्रव्य। उनमें जो रूपी अजीवद्रव्य है उसका लक्षण कहते हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त पुद्गल रूपी

१ प्रवच. २, ८०; पञ्चा १३४

२ 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' तत्त्वार्थसू ५, २३.

अजीवद्रव्यं शब्दादि । तं च रूवि-अजीवदव्वं छव्विहं, पुढवि-जल-छाया चउरिंदिय-विसय-कम्म-क्खंध-परमाणू चेदि । वुत्तं च—

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू ।
छव्विहमेयं भणिय पोग्गलदव्व जिणवरेहिं[1] ॥ २ ॥

जं तं अरूवि-अजीवदव्वं तं चउव्विहं, धम्मदव्वं अधम्मदव्वं आगासदव्वं कालदव्वं चेदि । तत्थ धम्मदव्वस्स लक्खणं वुच्चदे-ववगदपंचवण्णं ववगदपंचरसं ववगददुगंधं ववगदअट्ठपासं जीव-पोग्गलाणं गमणागमणकारणं असंखेज्जपदेसियं लोगपमाणं धम्मदव्वं । एवं चेव अधम्मदव्वं पि, णवरि जीव-पोग्गलाणं एदं ट्ठिदिहेदू । एवमागासदव्वं पि, णवरि आगासदव्वमणंतपदेसियं सव्वगयं ओगाहणलक्खणं । एवं चेव कालदव्वं पि, णवरि स-परपरिणामहेऊ अपदेसियं लोगपदेसपरिमाणं[2] । एदाणि छ

अजीवद्रव्य है, जैसे शब्दादि । वह रूपी अजीवद्रव्य छह प्रकारका है, पृथिवी, जल, छाया, नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके विषय, कर्मस्कन्ध और परमाणु । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवने पृथिवी, जल, छाया, नेत्र इन्द्रियके अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियोंके विषय, कर्म और परमाणु, इसप्रकार पुद्गलद्रव्य छह प्रकारका कहा है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—ऊपर जो पुद्गलके छह भेद बतलाये हैं वे उपलक्षणमात्र है, इसलिये उपलक्षणसे उस उस जातिके पुद्गलोंका उस उस भेदमें ग्रहण हो जाता है । ग्रन्थान्तरोंमें जो पुद्गलके स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म ये छह भेद गिनाये है और उनका दृष्टान्तोंद्वारा स्पष्टीकरण करनेके लिये उपर्युक्त पृथिवी आदि छह प्रकार बतलाये है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि ये पृथिवी आदि नाम उपलक्षणरूपसे लिये गये हैं ।

अरूपी अजीवद्रव्य चार प्रकारका है, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य । उनमेंसे धर्मद्रव्यका लक्षण कहते है । जो पांच प्रकारके वर्णसे रहित है, पांच प्रकारके रससे रहित है, दो प्रकारके गन्धसे रहित है, आठ प्रकारके स्पर्शसे रहित है, जीव और पुद्गलोंके गमन और आगमनमें साधारण कारण है, असंख्यातप्रदेशी है और लोकाकाशके बराबर है वह धर्मद्रव्य है । इसीप्रकार अधर्मद्रव्य भी है, परंतु इतनी विशेषता है कि यह जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें साधारण कारण है । इसीप्रकार आकाशद्रव्य भी है, पर इतनी विशेषता है कि आकाशद्रव्य अनन्तप्रदेशी, सर्वगत और अवगाहनलक्षणवाला है । इसीप्रकार

---

१ गो जी. ६०१. पुढवी जल च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा । कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति ॥ पञ्चा. ८३

२ लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का । रयणाण रासी इव ते कालाणू असखदव्वाणि ॥ दव्व सं. २२; गो. जी. ५८९.